बैताल
पच्चीसी

सोमदेव भट्ट कृत

बेताल पच्चीसी

रूपांतकार

वेद प्रकाश सोनी

चित्रांकन

शंकर नायक

प्रकाशक

जन साहित्य परिषद्

मकान नं. 29/32बी, गली नं. 12

विश्वास नगर, दिल्ली-110032

अनुक्रम

प्रारंभ

प्राचीन काल की बात है, तब उज्जयनी (वर्तमान में उज्जैन) में महाराज विक्रमादित्य राज किया करते थे। विक्रमादित्य हर प्रकार से एक आदर्श राजा थे। उनकी दानशीलता की कहानियां आज भी देश के कोने-कोने में सुनी जाती हैं। राजा प्रतिदिन अपने दरबार में आकर प्रजा के दुखों को सुनते व उनका निवारण किया करते थे। एक दिन राजा के दरबार में एक भिक्षु आया और एक फल देकर चला गया। तब से वह भिक्षु प्रतिदिन राजदरबार में पहुंचने लगा। वह राजा को एक फल देता और राजा उसे कोषाध्यक्ष को सौंप देता। इस तरह दस वर्ष व्यतीत हो गए। हमेशा की तरह एक दिन जब वह भिक्षु राजा को फल देकर चला गया तो राजा ने उस दिन फल को कोषाध्यक्ष को न देकर एक पालतू बंदर के बच्चे को दे दिया जो महल के किसी सुरक्षाकर्मी का था और उससे छूटकर राजा के पास चला आया था। उस फल को खाने के लिए जब बंदर के बच्चे ने उसे बीच से तोड़ा तो उसके अंदर से एक बहुत ही उत्तम कोटि का बहुमूल्य रत्न निकला। यह देखकर राजा ने वह रत्न ले लिया और कोषाध्यक्ष को बुलाकर उससे पूछा—''मैं रोज-रोज भिक्षु द्वारा लाया हुआ जो फल तुम्हें देता हूं, वे फल कहां हैं ?''

राजा ने आज्ञा दी तो कोषाध्यक्ष रत्न-भंडार गया और कुछ ही देर बाद आकर राजा को बताया—''प्रभु, वे फल तो सड़-गल गए, वे मुझे वहां नहीं दिखाई दिए। हां, चमकती-झिलमिलाती रत्नों की एक राशि वहां अवश्य मौजूद है।''

यह सुनकर राजा कोषाध्यक्ष पर प्रसन्न हुए और उसकी निष्ठा की प्रशंसा करते हुए सारे रत्न उसे ही सौंप दिए। अगले दिन पहले की तरह जब वह भिक्षु फिर राजदरबार में आया तो राजा ने उससे कहा—'हे भिक्षु ! इतनी बहुमूल्य भेंट तुम प्रतिदिन मुझे क्यों अर्पित करते हो ? अब मैं तब तक तुम्हारा यह फल ग्रहण नहीं करूंगा, जब तक तुम इसका कारण नहीं बताओगे।''

राजा के कहने पर भिक्षु उन्हें अलग स्थान पर ले गया और उनसे कहा—''हे राजन, मुझे एक मंत्र की साधना करनी है, जिसमें किसी वीर पुरुष की सहायता अपेक्षित है। हे वीरश्रेष्ठ ! उस कार्य में मैं आपकी सहायता की याचना करता हूं।''

यह सुनकर राजा ने उसकी सहायता करने का वचन दे दिया। तब संतुष्ट होकर भिक्षु ने राजा से फिर कहा—''देव, तब मैं आगामी अमावस्या को यहां के महाश्मशान में, बरगद के पेड़ के नीचे आपकी प्रतीक्षा करूंगा। आप कृपया वहीं मेरे पास आ जाना।''

''ठीक है, मै ऐसा ही करूंगा।'' राजा ने उसे आश्वस्त किया। तब वह भिक्षु संतुष्ट

होकर अपने घर चला गया। जब अमावस्या आई, तो राजा को भिक्षु को दिए अपने वचन का स्मरण हो आया और वह नीले कपड़े पहन, माथे पर चंदन लगाकर तथा हाथ में तलवार लेकर गुप्त रूप से राजधानी से निकल पड़ा। राजा उस श्मशान में पहुंचा, जहां भयानक गहरा और घुप्प अंधेरा छाया हुआ था। वहां जलने वाली चिताओं की लपटें बहुत भयानक दिखाई दे रही थीं। असंख्य नर-कंकाल, खोपड़ियां एवं हड्डियां इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। समूचा श्मशान भूत-पिशाचों से भरा पड़ा था और सियारों की डरावनी आवाजें श्मशान की भयानकता को और भी ज्यादा बढ़ा रही थीं। निर्भय होकर राजा ने वहां उस भिक्षु को ढूंढा। भिक्षु एक वट-वृक्ष के नीचे मंडल बना रहा था। राजा ने उसके निकट जाकर कहा—"भिक्षु, मैं आ गया हूं। बताओ, मुझे क्या करना होगा ?" राजा को उपस्थित देखकर भिक्षु बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"राजन ! यदि आपने मुझ पर इतनी कृपा की है तो एक कृपा और कीजिए, आप यहां से दक्षिण की ओर जाइए। यहां से बहुत दूर, श्मशान के उस छोर पर आपको शिंशपा (शीशम) का एक विशाल वृक्ष मिलेगा। उस पर एक मरे हुए मनुष्य का शरीर लटक रहा है। आप उस शव को यहां ले आइए और मेरा कार्य पूरा कीजिए।" राजा विक्रमादित्य भिक्षु की बात मानकर वहां से दक्षिण की ओर चल पड़े।

जलती हुई चिताओं के प्रकाश के सहारे वे उस अंधकार में आगे बढ़ते गए और बड़ी कठिनाई से उस वृक्ष को खोज पाए। वह वृक्ष चिताओं के धुएं के कारण काला पड़ गया था। उससे जलते हुए मांस की गंध आ रही थी। उसकी एक शाखा पर एक शव इस प्रकार लटका हुआ था जैसे किसी प्रेत के कंधे पर लटक रहा हो। राजा ने वृक्ष पर चढ़कर अपनी तलवार से डोरी काट डाली और शव को जमीन पर गिरा दिया। नीचे गिरकर वह शव बड़ी जोर से चीख उठा, जैसे उसे बहुत पीड़ा पहुंची हो। राजा ने समझा कि वह मनुष्य जीवित है। राजा को उस पर दया आई। अचानक उस शव ने जोर से अट्टाहस किया। तब राजा समझ गया कि उस पर बेताल चढ़ा हुआ है। राजा उसके अट्टहास करने का कारण जानने की कोशिश कर रहा था कि अचानक शव में हरकत हुई और वह हवा में उड़ता हुआ पुनः उसी शाखा पर जा लटका। इस पर राजा एक बार फिर से वृक्ष पर चढ़ा और शव को पुनः नीचे उतार लिया। फिर राजा ने उस शव को अपने कंधे पर डाला और खामोशी से भिक्षु की ओर चल पड़ा। कुछ दूर चलने पर राजा के कंधे पर सवार शव के अंदर का बेताल बोला—"राजन, मुझे ले जाने के लिए तुम्हें बहुत परिश्रम करना पड़ रहा है। तुम्हारे श्रम के कष्ट को दूर करने एवं समय बिताने के लिए मैं तुम्हें एक कथा सुनाना चाहता हूं। किंतु कथा के दौरान तुम मौन ही रहना। यदि तुमने अपना मौन तोड़ा तो मैं तुम्हारी पकड़ से छूटकर पुनः अपने स्थान को लौट जाऊंगा। राजा द्वारा सहमति जताने पर बेताल ने उसे एक रोचक कथा सुनाई।

प्रथम बेताल
पद्मावती की कथा कथा

आर्यावर्त्त में वाराणसी नाम की एक नगरी है, जहां भगवान शंकर निवास करते हैं। पुण्यात्मा लोगों के रहने के कारण वह नगरी कैलाश-भूमि के समान जान पड़ती है। उस नगरी के निकट अगाध जल वाली गंगा नदी बहती है जो उसके कंठहार की तरह सुशोभित होती है। प्राचीनकाल में उस नगरी मे एक राजा राज करता था, जिसका नाम था प्रताप मुकुट।

प्रताप मुकुट का वज्रमुकुकट नामक एक पुत्र था जो अपने पिता की ही भांति बहुत धीर, वीर और गंभीर था। वह इतना सुंदर था कि कामदेव का साक्षात् अवतार लगता था। राजा के एक मंत्री का बेटा बुद्धिशरीर उस वज्रमुकुट का घनिष्ठ मित्र था। एक बार वज्रमुकुट अपने उस मित्र के साथ जंगल में शिकार खेलने गया। वहां घने जंगल के बीच उसे एक रमणीक सरोवर दिखाई दिया, जिसमें बहुत-से कमल के सुंदर-सुंदर पुष्प खिले हुए थे। उसी समय अपनी कुछ सखियों सहित एक राजकन्या वहां आई और सरोवर में स्नान करने लगी। राजकन्या के सुंदर रूप को देखकर वज्रमुकुट उस पर मोहित हो गया। राजकन्या ने भी वज्रमुकुट को देख लिया था और वह भी पहली ही नजर में उसकी ओर आकृष्ट हो गई। राजकुमार वज्रमुकुट अभी उस राजकन्या के बारे में जानने के लिए सोच ही रहा था कि राजकन्या ने खेल-खेल में ही उसकी ओर संकेत करके अपना नाम-धाम भी बता दिया। उसने एक कमल के पत्ते को लेकर कान में लगाया, दंतपत्र से देर तक दांतों को खुरचा, एक दूसरा कमल माथे पर तथा हाथ अपने हृदय पर रखा। किंतु राजकुमार ने उस समय उसके इशारों का मतलब न समझा।

उसके बुद्धिमान मित्र बुद्धिशरीर ने उन इशारों का मतलब समझ लिया था, अतः मंद-मंद मुस्कराता हुआ अपने मित्र की हालत देखता रहा, जो उस राजकन्या के प्रेमबाण से आहत होकर, राजकन्या और उसकी सखियों को वापस जाते देख रहा था।

राजकुमार घर लौटा तो वह बहुत उदास था। उसकी दशा जल बिन-मछली की भांति हो रही थी। जब से वह शिकार से लौटा था, उस राजकन्या के वियोग में उसका खाना-पीना छूट गया था। राजकुमारी की याद आते ही उसका मन उसे पाने के लिए बेचैन होने लगता था।

एक दिन बुद्धिशरीर ने राजकुमार से एकान्त में इसका कारण पूछा। कारण जानकर उसने कहा कि उसका मिलना कठिन नहीं है। तब राजकुमार ने अधीरता से कहा—"जिसका न तो नाम-धाम मालूम है और न जिसके कुल का ही कोई पता है, वह भला कैसे पाई जा सकती है ? फिर तुम व्यर्थ ही मुझे भरोसा क्यों दिलाते हो ?"

इस पर मंत्रीपुत्र बुद्धिशरीर बोला—"मित्र, उसने तुम्हें इशारों से जो कुछ बताया था, क्या उन्हें तुमने नहीं देखा ? सुनो—उसने कानों पर उत्पल (कमल) रखकर बताया कि वह राजा कर्णोत्पल के राज्य में रहती है। दांतों को खुरचकर यह संकेत दिया कि वह वहां के दंतवैद्य की कन्या है। अपने कान में कमल का पत्ता लगाकर उसने अपना नाम पद्मावती बताया और हृदय पर हाथ रखकर सूचित किया कि उसका हृदय तुम्हें अर्पित हो चुका है। कलिंग देश में कर्णोत्पल नाम का एक सुविख्यात राजा है। उसके दरबार में दंतवैद्य की पद्मावती नाम की एक कन्या है जो उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी है। दंतवैद्य उस पर अपनी जान छिड़कता है।"

मंत्रीपुत्र ने आगे बताया—"मित्र, ये सारी बातें मैंने लोगों के मुख से सुन रखी थीं इसलिए मैने उसके उन इशारों को समझ लिया, जिससे उसने अपने देश आदि की सूचना दी थी।"

मंत्रीपुत्र के ऐसा कहने पर राजकुमार को बेहद संतोष हुआ। प्रिया का पता लगाने का उपाय मिल जाने के कारण वह प्रसन्न भी था। वह अपने मित्र के साथ अगले ही दिन आखेट का बहाना करके अपनी प्रिया से मिलने चल पड़ा। आधी राह में अपने घोड़े को वायु-वेग से दौड़ाकर उसने अपने सैनिकों को पीछे छोड़ दिया और केवल मंत्रीपुत्र के साथ कलिग की ओर बढ़ चला।

राजा कर्णोत्पल के राज्य में पहुंचकर उसने दंतवैद्य की खोज की और उसका घर देख लिया। तब राजकुमार और मंत्रीपुत्र ने उसके घर के पास ही निवास करने के लिए, एक वृद्ध स्त्री के मकान में प्रवेश किया।

मंत्रीपुत्र ने घोड़ों को दाना-पानी देकर उन्हें छिपाकर बांध दिया, फिर राजकुमार के सामने ही उसने वृद्धा से कहा—"हे माता, क्या आप संग्रामवर्धन नाम के किसी दंतवैद्य को जानती हैं ?"

यह सुनकर उस वृद्धा स्त्री ने आश्चर्यपूर्वक कहा—"हां, मैं जानती हूं। मै उनकी धाय हूं लेकिन अधिक उम्र हो जाने के कारण अब उन्होंने मुझे अपनी बेटी पद्मावती की सेवा में लगा दिया है। किंतु, वस्त्रों से हीन होने के कारण मैं सदा उसके पास नहीं जाती। मेरा बेटा नालायक और जुआरी है। मेरे वस्त्र देखते ही वह उन्हें उठा ले जाता है।"

बुढ़िया के ऐसा कहने पर प्रसन्न होकर मंत्रीपुत्र ने अपने उत्तरीय आदि वस्त्र उसे देकर संतुष्ट किया। फिर वह बोला—"तुम हमारी माता के समान हो। पुत्र समझकर हमारा एक कार्य गुप्त रूप से कर दो तो हम आपके बहुत आभारी रहेंगे। तुम इस दंतवैद्य की कन्या पद्मावती से जाकर कहो कि जिस राजकुमार को उसने सरोवर के किनारे देखा था, वह यहां आया हुआ है। प्रेमवश उसने यह संदेश कहने के लिए तुम्हें वहां भेजा है।"

उपहार मिलने की आशा में वह बुढ़िया तुरंत ऐसा करने को तैयार हो गई। वह

पद्मावती के पास पहुंची और वह संदेश पद्मावती को देकर शीघ्रता से लौट आई।

पूछने पर उसने राजकुमार और मंत्रीपुत्र को बताया—"मैंने जाकर तुम लोगों के आने की बात गुप्त रूप से उससे कही। सुनकर उसने मुझे बहुत बुरा-भला कहा और कपूर लगे अपने दोनों हाथों से मेरे दोनों गालो पर कई थप्पड़ मारे। मैं इस अपमान को सहन न कर सकी और दुखी होकर रोती हुई वहा से लौट आई। बेटे, स्वयं अपनी आंखों से देख लो, मेरे दोनों गालों पर अभी भी उसके द्वारा मारे गए थप्पड़ों के निशान मौजूद हैं।"

बुढ़िया द्वारा बताए जाने पर राजकुमार उदास हो गया किंतु महाबुद्धिमान मंत्रीपुत्र ने उससे एकांत में कहा—"तुम दुखी मत हो मित्र। पद्मावती ने बुढ़िया को फटकारकर, कपूर से उजली अपनी दसों उंगलियों की छाप द्वारा तुम्हें ये बताने की कोशिश की है कि तुम शुक्लपक्ष की दस चांदनी रातों तक प्रतीक्षा करो। ये रातें मिलन के लिए उपयुक्त नहीं हैं।"

इस तरह राजकुमार को आश्वासन देकर मंत्रीपुत्र बाजार में गया और अपने पास का थोड़ा-सा सोना बेच आया। उससे मिले धन से उसने बुढ़िया से उत्तम भोजन तैयार करवाया और उस वृद्धा के साथ ही भोजन किया।

इस तरह दस दिन बिताकर मंत्रीपुत्र ने उस बुढ़िया को फिर पद्मावती के पास भेज दिया। बुढ़िया उत्तम भोजन के लोभ में यह कार्य करने के लिए फिर से तैयार हो गई।

बुढ़िया ने लौटकर उन्हें बताया—"आज मैं यहां से जाकर, चुपचाप उसके पास खड़ी रही। तब उसने स्वयं ही तुम्हारी बात कहने के लिए मेरे अपराध का उल्लेख करते हुए मेरे हृदय पर महावर लगी अपनी तीन उंगलियों से आघात किया। इसके बाद मैं उसके पास से यहां चली आई।"

तीन रातें बीत जाने के बाद मंत्रीपुत्र ने अकेले में राजकुमार से कहा—"तुम कोई शंका मत करो, मित्र। पद्मावती ने महावर लगी तीन उंगलियों की छाप छोड़कर यह सूचित किया है कि वह अभी तीन दिन तक राजमहल में रहेगी।"

यह सुनकर मंत्रीपुत्र ने फिर से बुढ़िया को पद्मावती के पास भेजा। उस दिन जब बुढ़िया पद्मावती के पास पहुंची तो उसने बुढ़िया का उचित स्वागत-सत्कार किया और उसे स्वादिष्ट भोजन भी कराया। पूरा दिन वह बुढ़िया के साथ हंसती-मुस्कराती बातें करती रही। शाम को जब बुढ़िया लौटने को हुई, तभी बाहर बहुत डरावना शोर-गुल सुनाई दिया—"हाय-हाय, यह पागल हाथी जंजीरें तोड़कर लोगों को कुचलता हुआ भागा जा रहा है।" बाहर से मनुष्यों की ऐसी चीख-पुकार सुनाई पड़ीं।

तब पद्मावती ने उस बुढ़िया से कहा—"राजमार्ग को एक हाथी ने रोक रखा है। उससे तुम्हारा जाना उचित नहीं है। मैं तुम्हें रस्सियों से बंधी एक पीढ़ी पर बैठाकर उस बड़ी खिड़की के रास्ते नीचे बगीचे में उतरवा देती हूं। उसके बाद तुम

पेड़ के सहारे बाग की चारदीवारी पर चढ़ जाना और फिर वहां से दूसरी ओर के पेड़ पर चढकर नीचे उतर जाना। फिर वहां से अपने घर चली जाना।" यह कहकर एक रस्सी से बंधी पीढ़ी पर बैठाकर उसने बुढ़िया को अपनी दासियों द्वारा खिड़की के रास्ते नीचे बगीचे में उतरवा दिया। बुढ़िया पद्मावती द्वारा बताए हुए उपाय से घर लौट आई और सारी बातें ज्यों-की-त्यों राजकुमार और मंत्रीपुत्र को बता दीं।

तब उस मंत्रीपुत्र ने राजकुमार से कहा—"मित्र, तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ। उसने युक्तिपूर्वक तुम्हें रास्ता भी बतला दिया है इसलिए आज ही शाम को तुम वहां जाओ और इसी मार्ग से अपनी उस प्रिया के भवन में प्रवेश करो।"

राजकुमार ने वैसा ही किया। बुढ़िया के बताए हुए तरीके द्वारा वह चारदीवारी पर चढ़कर पद्मावती के बगीचे में पहुंच गया। वहां उसने रस्सियों से बंधी हुई पीढ़ी को लटकते देखा, जिसके ऊपरी छज्जे पर राजकुमार की राह देखती हुई कई दासियां खड़ी थीं। ज्योंही राजकुमार पीढ़ी पर बैठा, दासियों ने रस्सी ऊपर खींच ली और वह खिड़की की राह से अपनी प्रिया के पास जा पहुंचा। मंत्रीपुत्र ने जब अपने मित्र को निर्विघ्न खिड़की में प्रवेश करते देखा तो वह संतुष्ट होकर वहां से लौट गया।

अंदर पहुंचकर राजकुमार ने अपनी प्रिया को देखा। पद्मावती का मुख पूर्णचंद्र के समान था जिससे शोभा की किरणें छिटक रही थीं। पद्मावती भी उत्कंठा से भरी राजकुमार के अंग लग गई और अनेक प्रकार से उसका सम्मान करने लगी।

अनन्तर, राजकुमार ने गांधर्व-विधि से पद्मावती के साथ विवाह रचा लिया और कई दिन तक गुप्त-रूप से उसी के आवास में छिपा रहा। कई दिनों तक वहां रहने के बाद, एक रात को उसने अपनी प्रिया से कहा—"मेरे साथ मेरा मित्र बुद्धिशरीर भी यहां आया है। वह यहां अकेला ही तुम्हारी धाय के घर में रहता है। मैं अभी जाता हूं, उसकी कुशलता का पता करके और उसे समझा-बुझाकर पुनः तुम्हारे पास आ जाऊंगा।"

यह सुनकर पद्मावती ने राजकुमार से कहा—"आर्यपुत्र, यह तो बतलाइए कि मैंने जो इशारे किए थे, उन्हें तुमने समझा था या बुद्धिशरीर ने ?"

"मैं तो तुम्हारे इशारे बिल्कुल भी नहीं समझा था।" राजकुमार से बताया—"उन इशारों को मेरे मित्र बुद्धिशरीर ने ही समझकर मुझे बताया था।

यह सुनकर और कुछ सोचकर पद्मावती ने राजकुमार से कहा—"यह बात इतने विलम्ब से कहकर आपने बहुत अनुचित कार्य किया है। आपका मित्र होने के कारण वह मेरा भाई है। पान-पत्तों से मुझे पहले उसका ही स्वागत-सत्कार करना चाहिए था।"

ऐसा कहकर उसने राजकुमार को जाने की अनुमति दे दी। तब, रात के समय राजकुमार जिस रास्ते से आया था, उसी से अपने मित्र के पास गया।

पद्मावती से, उसके इशारे समझाने के बारे में राजकुमार को जो बातें हुई थीं,

बातों-बातों में वह सब भी उसने मंत्रीपुत्र को कह सुनाई। मंत्रीपुत्र ने अपने संबंध में कही गई इस बात को उचित न समझकर इसका समर्थन नहीं किया। इसी बीच रात बीत गई।

सवेरे सध्या-वंदन आदि से निवृत्त होकर दोनों बातें कर रहे थे, तभी पद्मावती की एक सखी हाथ में पान और पकवान लेकर वहां आई। उसने मंत्रीपुत्र का कुशल-मंगल पूछा और लाई हुई चीजें उसे दे दीं। बातों-बातों में उसने राजकुमार से कहा कि उसकी स्वामिनी भोजन आदि के लिए उसकी प्रतीक्षा कर रही है। पल-भर बाद, वह गुप्त रूप से वहां से चली गई। तब मंत्रीपुत्र ने राजकुमार से कहा—"मित्र, अब देखिए, मैं आपको एक तमाशा दिखाता हूं।"

यह कहकर उसने एक कुत्ते के सामने वह भोजन डाल दिया। कुत्ता वह पकवान खाते ही तड़प-तड़पकर मर गया। यह देखकर आश्चर्यचकित हुए राजकुमार ने मंत्रीपुत्र से पूछा—"मित्र, यह कैसा कौतुक है ?"

तब मंत्रीपुत्र ने कहा—"मैंने उसके इशारों को पहचान लिया था इसलिए मुझे धूर्त समझकर उसने मेरी हत्या कर देनी चाही थी। इसी से, तुममें बहुत अनुराग होने के कारण उसने मेरे लिए विष मिश्रित पकवान भेजे थे। उसे भय था कि मेरे रहते राजकुमार एकमात्र उसी में अनुराग नहीं रख सकेगा और उसके वश में रहकर, उसे छोड़कर अपनी नगरी में चला जाएगा। इसलिए उस पर क्रोध न करो बल्कि उसे अपने माता-पिता के त्याग के लिए प्रेरित करो और सोच-विचार उसके हरण के लिए मैं तुम्हें जो युक्ति बतलाता हूं, उसके अनुसार आचरण करो।"

मंत्रीपुत्र के ऐसा कहने पर राजकुमार यह कहकर उसकी प्रशंसा करने लगा कि—"सचमुच तुम बुद्धिमान हो।" इसी बीच अचानक बाहर से दुख से विकल लोगों का शोरगुल सुनाई पड़ा, जो कह रहे थे—"हाय-हाय, राजा का छोटा बच्चा मर गया।"

यह सुनकर मंत्रीपुत्र प्रसन्न हुआ। उसने राजकुमार से कहा—"आज रात को तुम पद्मावती के घर जाओ। वहां तुम उसे इतनी मदिरा पिलाना कि वह बेहोश हो जाए, और वह किसी मृतक के समान जान पड़े। जब वह बेहोश हो तो उस हालत में तुम एक त्रिशूल गर्म करके उसकी जांघ पर दाग देना और उसके गहनों की गठरी बांधकर रस्सी के सहारे, खिड़की के रास्ते से यहां चले आना। उसके बाद मैं सोच-विचारकर कोई वैसा उपाय करूंगा जो हमारे लिए कल्याणकारी हो।"

राजकुमार ने वैसा ही किया। उसने पद्मावती को जी-भरकर मदिरा पिलाई और जब वह बेहोश हो गई तो उसकी जांघ पर त्रिशूल से एक बड़ा-सा दाग बना दिया और उसके गहनों की गठरी बनाकर अपने साथ ले आया।

सवेरे श्मशान में जाकर मंत्रीपुत्र ने तपस्वी का रूप धारण किया और राजकुमार को अपना शिष्य बनाकर उससे कहा—"अब तुम इन आभूषणों में से मोतियों का हार लेकर बाजार में बेचने के लिए जाओ, लेकिन इसका दाम इतना अधिक बताना

कि इसे कोई खरीद न सके, साथ ही यह भी प्रयत्न करो कि इसे लेकर घूमते हुए तुम्हें अधिक-से-अधिक लोग देखें। अगर नगररक्षक तुम्हें पकड़ें, तो बिना घबराए हुए तुम कहना कि—"मेरे गुरु ने इसे बेचने के लिए मुझे दिया है।"

तब राजकुमार बाजार में गया और वहां उस हार को लेकर घूमता रहा।

उधर दंतवैद्य की बेटी के गहनों की चोरी की खबर पाकर, नगररक्षक उसका पता लगाने के लिए घूमते फिर रहे थे। राजकुमार को हार के साथ देखकर उन लोगों ने उसे पकड़ लिया।

नगररक्षक राजकुमार को नगरपाल के पास ले गए। उसने तपस्वी के वेश में राजकुमार को देखकर आदर सहित पूछा—"भगवन्, मोतियों का यह हार आपको कहां से मिला ? पिछले दिनों दंतवैद्य की कन्या के आभूषण चोरी हो गए थे जिनमें इस हार का भी जिक्र था।"

इस पर तपस्वी-शिष्य बना राजकुमार बोला—"इसे मेरे गुरु ने बेचने के लिए मुझे दिया है। आप उन्हीं से पूछ लीजिए।"

तब नगरपाल वहां आया तो तपस्वी रूपी मंत्रीपुत्र ने कहा—"मैं तो तपस्वी हूं। सदा जंगलों में यहां-वहां घूमता रहता हूं। संयोग से मैं पिछली रात इस श्मशान में आकर टिक गया था। यहां मैंने इधर-उधर से आई हुई योगिनियों को देखा। उनमें से एक योगिनी राजपुत्र को ले आई और उसने उसका हृदय निकालकर भैरव को अर्पित कर दिया। मदिरा पीकर वह मायाविनी मतवाली हो गई और मुझे मुंह चिढ़ाकर, मेरी उस रुद्राक्ष माला को लेने दौड़ी जिसके मनकों के साथ मैं तप कर रहा था। जब उसने मुझे बहुत तंग किया तो मुझे उस पर क्रोध आ गया। मैंने मंत्रबल से अग्नि जलाई और उसमें त्रिशूल तपाकर उसकी जंघा पर दाग दिया। उसी समय मैंने उसके गले से यह मोतियों का हार खींच लिया था। अब मैं ठहरा तपस्वी, यह हार मेरे किसी काम का नहीं है इसलिए मैंने अपने शिष्य को इसे बेचने के लिए भेज दिया था।"

यह सुनकर नगरपाल राजा के पास पहुंचा और उसने राजा से सारा वृत्तांत कह सुनाया। राजा ने बात सुनकर उस मोतियों के हार को पहचान दिया। पहचानने का कारण यह था कि वह हार स्वयं राजा ने ही दंतवैद्य की बेटी को उपहार स्वरूप भेंट किया था।

तब राजा ने अपनी एक विश्वासपात्र वृद्धा दासी को यह जांच करने के लिए दंतवैद्य के यहां भेजा कि वह पद्मावती के शरीर का परीक्षण कर यह पता करे कि उसकी जांघ पर त्रिशूल का चिन्ह है या नहीं। वृद्धा दासी ने जांच करके राजा को बताया कि उसने पद्मावती की जांघ पर वैसा ही एक दाग देखा है। इस पर राजा को विश्वास हो गया कि पद्मावती ही उसके बेटे को मारकर खा गई है। तब वह स्वयं तपस्वी-वेशधारी मंत्रीपुत्र के पास गए और पूछा कि पद्मावती को क्या दंड

दिया जाए। मंत्रीपुत्र के कहने पर राजा ने पद्मावती को नग्नावस्था में अपने राज्य से निर्वासित कर दिया।

नग्न करके वन में निर्वासित कर दिए जाने पर भी पद्मावती ने आत्महत्या नहीं की। उसने सोचा कि मंत्रीपुत्र ने ही यह सब उपाय किया है। शाम होने पर तपस्वी का वेश त्यागकर राजुकमार और मंत्रीपुत्र, घोड़ों पर सवार होकर वहां पहुंचे जहां पद्मावती शोकमग्न बैठी थी। वे उसे समझा-बुझाकर घोड़े पर बैठाकर अपने देश ले गए। वहां राजकुमार उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगा।

बेताल ने इतनी कथा सुनाकर राजा विक्रमादित्य से पूछा—"राजन ! आप बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं, अतः मुझे यह बताइए कि यदि राजा क्रोधवश उस समय पद्मावती–को नगर निर्वासन का आदेश न देकर उसे मारने का आदेश दे देता...अथवा पहचान लिए जाने पर वह राजकुमार का ही वध करवा देता तो इन पति-पत्नी के वध का पाप किसे लगता ? मंत्रीपुत्र को, राजकुमार को अथवा पद्मावती को ? राजन, यदि जानते हुए भी तुम मुझे ठीक-ठीक नहीं बतलाओगे तो विश्वास जानो कि तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े हो जाएंगे।"

बेताल के ऐसा कहने पर सब-कुछ जानते हुए भी राजा विक्रमादित्य ने शाप के भय से उससे यों कहा—"योगेश्वर, इसमें न जानने योग्य क्या है ? इसमें इन तीनों का कोई पाप नहीं है। जो पाप है वह राजा कर्णोत्पल का है।"

बेताल बोला—"इसमें राजा का पाप क्या है ? जो कुछ किया, वह तो उन तीनों ने किया। हंस यदि चावल खा जाएं तो इसमें कौओं का क्या अपराध है ?"

तब विक्रमादित्य बोला—"उन तीनों का कोई दोष नहीं था। पद्मावती और राजकुमार कामाग्नि में जल रहे थे, वे अपने स्वार्थ साधन में लगे हुए थे। अतः वे भी निर्दोष थे। उनका विचार नहीं करना चाहिए लेकिन राजा कर्णोत्पाल अवश्य पाप का भागी था। राजा होकर भी वह नीतिशास्त्र नहीं जानता था। उसने अपने गुप्तचरों के द्वारा अपनी प्रजा से भी सच-झूठ का पता नहीं लगवाया। वह धूर्तो के चरित्र को नहीं जानता था। फिर भी बिना विचारे उसने जो कुछ किया, उसके लिए वह पाप का भागी हुआ।"

शव के अंदर प्रविष्ट उस बेताल से, जब राजा ने मौन छोड़कर ऐसी युक्तियुक्त बातें कहीं, तब उनकी दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए अपनी माया के प्रभाव से वह राजा विक्रमादित्य के कंधे से उतरकर इस तरह कहीं चला गया कि राजा को पता भी नहीं चला। फिर भी राजा घबराया नहीं, राजा ने उसे फिर से ढूंढ़ निकालने का निश्चय किया और वापस उसी वृक्ष की ओर लौट पड़ा।

❑❑❑

द्वितीय बेताल
तीन तरुण ब्राह्मणों की कथा

महाराज विक्रमादित्य पुनः उसी शिंशपा-वृक्ष के नीचे पहुंचे। वहां चिता की मटमैली रोशनी में उनकी नजर भूमि पर पड़े उस शव पर पड़ी जो धीरे-धीरे कराह रहा था।

उन्होंने शव को उठाकर कंधे पर डाला और चुपचाप उसे उठाए तेज गति से लौट पड़े।

कुछ आगे चलने पर शव के अंदर से बेताल की आवाज आई—"राजन ! तुम अत्यंत अनुचित क्लेश में पड़ गए, अतः तुम्हारे मनोरंजन के लिए मैं एक कहानी सुनाता हूं, सुनो।"

यमुना किनारे ब्रह्मस्थल नाम का एक स्थान है, जो ब्राह्मणों को दान में मिला हुआ था। वहां वेदों का ज्ञाता अग्निस्वामी नाम का एक ब्राह्मण था। उसके यहां मन्दरावती नाम की एक अत्यंत रूपवती कन्या उत्पन्न हुई। जब वह कन्या युवती हुई, तब तीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुमार वहां आए जो समान भाव से समस्त गुणों से अलंकृत थे।

उन तीनों ने ही उसके पिता से अपने लिए कन्या की याचना की। किंतु कन्या के पिता ने उनमें से किसी के भी साथ कन्या का विवाह करना स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसे भय हुआ कि ऐसा करने पर वे तीनों आपस में ही लड़ मरेंगे। इस तरह वह कन्या कुआंरी ही रही।

वे तीनों ब्राह्मण कुमार भी चकोर का व्रत लेकर उसके मुखमंडल पर टकटकी लगाए रात-दिन वहीं रहने लगे।

एक बार मंदारवती को अचानक दाह-ज्वर हो गया और उसी अवस्था में उसकी मौत हो गई। उसके मर जाने पर तीनों ब्राह्मण कुमार शोक से बड़े विकल हुए और उसे सजा-संवारकर श्मशान ले गए, जहां उसका दाह-संस्कार किया।

उनमें से एक ने वहीं अपनी एक छोटी-सी मढ़ैया बना ली और मंदारवती की चिता की भस्म अपने सिराहने रखकर एवं भीख में प्राप्त अन्न पर निर्वाह करता हुआ वहीं रहने लगा।

दूसरा उसकी अस्थियों की भस्म लेकर गंगा-तट पर चला गया और तीसरा योगी बनकर देश-देशांतरों के भ्रमण के लिए निकल पड़ा।

योगी बना वह ब्राह्मण घूमता-फिरता एक दिन वत्रोलक नाम के गांव में जा पहुंचा। वहां अतिथि के रूप में उसने एक ब्राह्मण के घर में प्रवेश किया। ब्राह्मण
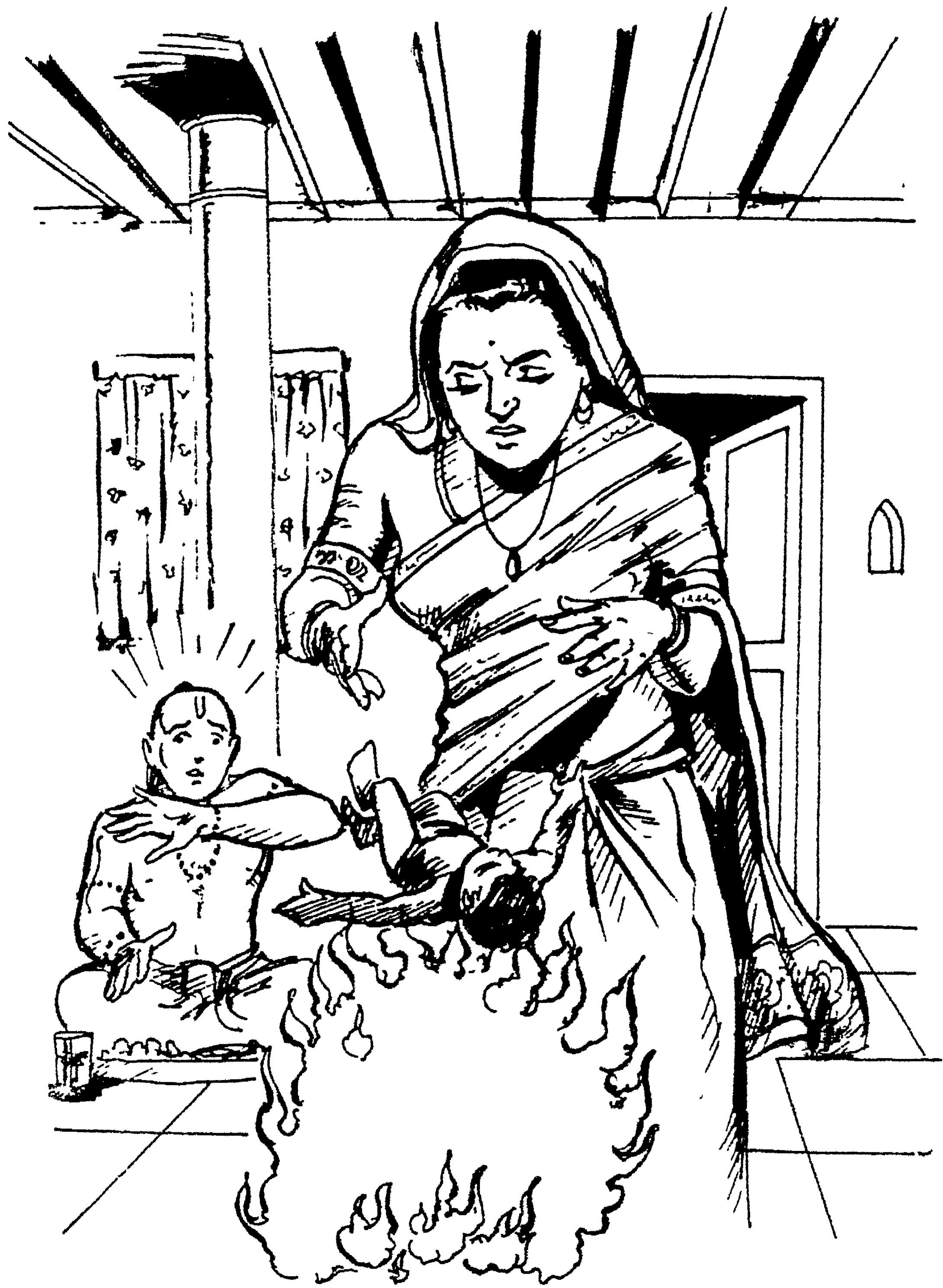
द्वारा सम्मानित होकर जब वह भोजन करने बैठा, तो उसी समय एक बालक ने जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया। बहुत बहलाने-समझाने पर भी जब बालक चुप न हुआ तो घर की मालकिन ने क्रुद्ध होकर उसे हाथों में उठा लिया और जलती हुई अग्नि में फेंक दिया। आग में गिरते ही, कोमल शरीर वाला वह बालक जलकर राख हो गया। यह देखकर उस योगी को रोमांच हो आया। उसने परोसे हुए भोजन को आगे सरका दिया और उठकर खड़ा होते हुए क्रोधित भाव में बोला—"धिक्कार है आप लोगों पर। आप ब्राह्मण नहीं, कोई ब्रह्म-राक्षस हैं। अब मैं तुम्हारे घर का भोजन तो क्या, एक अन्न का दाना भी ग्रहण नहीं करूंगा।"

योगी के ऐसा कहने पर गृहस्वामी बोला—"हे योगिराज, आप कुपित न हों। मैं बच्चे को फिर से जीवित कर लूंगा। मैं एक ऐसा मंत्र जानता हूं जिसके पढ़ने से मृत व्यक्ति जीवित हो जाता है।"

यह कहकर वह गृहस्थ, एक पुस्तक ले आया जिसमें मंत्र लिखा था। उसने मंत्र पढ़कर उससे अभिमंत्रित धूल आग में डाल दी। आग में धूल के पड़ते ही वह बालक जीवित होकर ज्यों-का-त्यों आग से निकल आया।

जब उस ब्राह्मण योगी का चित्त शांत हो गया तो उसने भोजन ग्रहण किया। गृहस्थ ने उस पुस्तिका को बांधकर खूंटी पर टांग दिया और भोजन करके योगी के साथ वहीं सो गया। गृहपति के सो जाने के पश्चात् वह योगी चुपचाप उठा और अपनी प्रिया को जीवित करने की इच्छा से उसने डरते-डरते वह पुस्तक खूंटी से उतार ली और चुपचाप बाहर निकल आया।

रात-दिन चलता हुआ, वह योगी उस जगह पहुंचा, जहां उसकी प्रिया का दाह हुआ था। वहां पहुंचते ही उसने उस दूसरे ब्राह्मण को देखा जो मंदारवती की अस्थियां लेकर गंगा में डालने गया था।

तब उस योगी ने उससे तथा उस पहले ब्राह्मण से, जिसने वहां कुटिया बना ली थी और चिता-भस्म से सेज रच रखी थी कहा कि—"तुम यह कुटिया यहां से हटा लो जिससे मैं एक मंत्र शक्ति के द्वारा इस भस्म हुई मदारवती को जीवित करके उठा लूं।"

इस प्रकार उन्हें बहुत समझा-बुझाकर उसने वह कुटिया उजाड़ डाली। तब वह योगी पुस्तक खोलकर मंत्र पढ़ने लगा। उसने धूल को अभिमत्रित करके चिता-भस्म में डाल दिया और मंदारवती उसमें से जीती-जागती निकल आई। अग्नि में प्रवेश करके निकलते हुए उसके शरीर की कांति पहले से भी अधिक तेज हो गई थी। उसका शरीर अब ऐसा लगने लगा था जैसे वह सोने का बना हुआ हो। इस प्रकार उसको जीवित देखकर वे तीनों ही काम-पीडित हो गए और उसको पाने के लिए आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। जिस योगी ने मत्र से उसे जीवित किया था वह बोला कि वह स्त्री उसकी है। उसने उसे मंत्र-तंत्र से प्राप्त किया है। दूसरे ने कहा कि तीर्थो के प्रभाव से मिली वह उसकी भार्या है। तीसरा बोला कि उसकी भस्म को रखकर

अपनी तपस्या से उसने उसे जीवित किया है, अतः उस पर उसका ही अधिकार है।

इतनी कहानी सुनाकर बेताल ने विक्रमादित्य से कहा—"राजन ! उनके इस विवाद का निर्णय करके तुम ठीक-ठीक बताओ कि वह स्त्री किसकी होनी चाहिए ? यदि तुम जानते हुए भी न बतला पाए तो तुम्हारा सिर फटकर अनेक टुकड़ों में बंट जाएगा।"

बेताल द्वारा कहे हुए शब्दों को सुनकर राजा विक्रमादित्य ने कहा—"हे बेताल ! जिस योगी ने कष्ट उठाकर भी, मंत्र-तंत्र से उसे जीवित किया, वह तो उसका पिता हुआ। ऐसा काम करने के कारण उसे पति नहीं होना चाहिए और जो ब्राह्मण उसकी अस्थियां गंगा में डाल आया था, उसे स्वयं को उस स्त्री का पुत्र समझना चाहिए। किंतु, जो उसकी भस्म की शैय्या पर आलिंगन करते हुए तपस्या करता रहा और श्मशान में ही बना रहा, उसे ही उसका पति कहना चाहिए, क्योंकि गाढ़ी प्रीति वाले उस ब्राह्मण ने ही पति के समान आचरण किया था।"

"तूने ठीक उत्तर दिया राजा किंतु ऐसा करके तूने अपना मौन भंग कर दिया। इसलिए मैं चला वापस अपने स्थान पर।" यह कहकर बेताल उसके कंधे से उतरकर लोप हो गया।

राजा ने भिक्षु के पास ले जाने के लिए, उसे फिर से पाने के लिए कमर कसी क्योंकि धीर वृत्ति वाले लोग प्राण देकर भी अपने दिए हुए वचन की रक्षा करते हैं। तब राजा फिर से उसी स्थान की ओर लौट पडा जहां से वह शव को उतारकर लाया था।

❑❑❑

तृतीय बेताल
शुक-सारिका की कथा

शिंशपा-वृक्ष पर चढ़कर विक्रमादित्य ने फिर बेताल को उतारा और उसे कंधे पर डालकर चुपचाप भिक्षु की ओर चल पड़ा। कुछ आगे चलने पर शव में बैठा बेताल फिर से बोला—"राजन, रात के समय इस भयानक श्मशान में आते-जाते तुम घबरा नहीं रहे हो, यह आश्चर्य की बात है। लो, तुम्हारे जी बहलाने के लिए मै तुम्हें फिर एक कथा सुनाता हूं।"

पाटलीपुत्र नाम का एक जगत-विख्यात नगर है। प्राचीन काल में वहां विक्रम केसरी नाम का एक राजा था, जिसके पास ऐश्वर्य के सारे सामान मौजूद थे। उसका खजाना बहुमूल्य रत्नों से सदैव ही भरा रहता था। उसके पास एक शुक (तोता) था जिसने श्राप के कारण यह जन्म पाया था। वह तोता समस्त शास्त्रों का ज्ञाता और दिव्य ज्ञान से युक्त था। उस तोते का नाम था—विदग्धचूड़ामरिन।

उस तोते के परामर्श से राजा ने अपने समान कुल वाली मगध की राजकुमारी चंद्रप्रभा से विवाह किया। उस राजकुमारी के पास भी सोमिका नाम की एक वैसी ही सारिका (मैना) थी जो समस्त विज्ञानों को जानने वाली थी। वे दोनों तोता-मैना अपने बुद्धिबल से अपने स्वामियों (पति-पत्नी) की सेवा करते हुए, वहां एक ही पिंजरे में रहते थे। एक दिन उत्कंठित होकर उस तोते ने मैना से कहा—"सुभगे, तुम मेरे साथ एक सेज पर सोओ, एक आसन पर बैठो, एक साथ भोजन करो और हमेशा के लिए मेरी ही हो जाओ।"

मैना बोली—"मैं पुरुष जाति का संसर्ग नहीं चाहती, क्योंकि वे दुष्ट और कृतघ्न होते हैं।"

मैना की बात सुनकर तोता बहुत आहत हुआ। उसके स्वाभिमान को ठेस पहुची। वह बोला—"तुम्हारा यह कथन बिल्कुल मिथ्या है, मैना। पुरुष दुष्ट नहीं होते, दुष्टा तो स्त्रियां होती हैं और वे क्रूर हृदय वाली भी होती हैं।"

तोते की बात पर दोनों में झगड़ा पैदा हो गया। तब उन दोनों ने शर्त लगाई कि यदि मैना झूठी हो तो वह तोते से विवाह कर लेगी और यदि तोते की बात गलत निकले तो वह मैना का दास बन जाएगा। निर्णय के लिए वे दोनों राजसभा में बैठे हुए राजपुत्र के पास गए।

अपने पिता के न्यायालय में बैठे हुए राजपुत्र ने जब उन दोनों के झगड़े का वृत्तांत सुना, तब उसने मैना से कहा—"सारिका, पहले तुम यह बतलाओ कि पुरुष किस प्रकार कृतघ्न होते हैं?"

मैना ने कहा—"सुनिए।"

अपने पक्ष की पुष्टि के लिए उसने पुरुषों का दोष सिद्ध करने वाली यह कथा सुनाई।

सारिका द्वारा सुनाई हुई कथा

इस धरती पर कामंदिका नाम की एक बहुत बड़ी नगरी है। वहां अर्थदत्त नाम का एक बहुत धनी व्यापारी रहता था। व्यापारी के यहां एक पुत्र ने जन्म लिया तो व्यापारी ने उसका नाम धनदत्त रखा। पिता की मृत्यु के बाद धनदत्त बहुत उच्छृंखल हो गया। वह बुरे लोगों की संगति में उठने-बैठने लगा। उसके कुछ धूर्त मित्रों ने उसे जुआ आदि दुर्व्यसनों में डाल दिया।

थोड़े ही दिनों में, इन व्यसनों के चलते धनदत्त का सारा धन जाता रहा। लज्जावश स्वदेश छोड़कर विदेश भ्रमण हेतु चल दिया।

चलते-चलते वह चंदनपुर नाम के एक गांव में पहुंचा। वहां, भोजन के निमित्त उसने एक व्यापारी के घर में प्रवेश किया। व्यापारी ने धनदत्त को कुलीन परिवार का समझकर उसका कुल आदि पूछा और फिर आदर सहित अपने घर में ठहरा लिया। व्यापारी धनदत्त के व्यवहार से इतना खुश हुआ कि उसने रत्नावती नाम की अपनी कन्या भी उसे ब्याह दी और दहेज में ढेर सारा धन भी दे दिया। तब वह धनदत्त वहीं अपने श्वसुर के घर में रहने लगा।

कुछ समय बीतने पर, सुख के कारण वह अपनी पिछली दुर्गति भूल गया। धन मिल जाने से वह फिर व्यसनों मे फंस गया और स्वदेश जाने के लिए उद्यत हो गया।

रत्नावली अपने माता-पिता कि इकलौती संतान थी, अतः वह व्यापारी उसे अपने पास से दूर नहीं जाने देना चाहता था। लेकिन उस दुष्ट ने बड़ी कठिनाई से किसी तरह उसे अनुमति देने के लिए विवश कर दिया। अनंतर, एक वृद्धा के साथ, गहनों से अलंकृत अपनी स्त्री को लेकर वह उस देश से चल पड़ा।

चलते-चलते वे बहुत दूर तक जंगल में जा पहुंचे। वहां चोरों का भय बतलाकर उसने अपनी स्त्री के गहने लेकर अपने पास रख लिए।

धन के लोभ से उस पापी ने अपनी गुणवती स्त्री और उस वृद्धा को एक खंदक में धकेल दिया। खंदक में गिरते ही वृद्धा तो मर गई लेकिन झाड़ियों में उलझ जाने के कारण उसकी पत्नी नहीं मरी। किसी तरह वह रोती-बिखलती उस खंदक से बाहर निकल आई। उसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था। जगह-जगह राह पूछती वह बड़ी कठिनाई से अपने पिता के घर पहुंच पाई।

अचानक इस रूप में उसके लौट आने पर उसके माता-पिता सकते में आ गए। उन्होंने कारण पूछा तो रोते-रोते उसने कहा—"पिताजी, डाकुओं ने हमें मार्ग में लूट लिया। वे मेरे पति को बांधकर ले गए। उन्होंने मुझे और वृद्धा को खंदक में फेंक दिया।

वृद्धा तो मर गई किंतु ईश्वर की कृपा से मेरे प्राण बच गए। मैं खंदक में चीखती-चिल्लाती रही। देवयोग से एक पथिक ने मेरी आवाज सुन ली और मुझ पर कृपा करके मुझे खंदक से बाहर निकाला। मैं किसी प्रकार मार्ग में राहगीरों से रास्ता पूछती हुई यहां तक पहुंची हूं।''

बेटी के मुख से उसकी विपदा का हाल सुनकर उसके माता-पिता ने उसे धीरज बंधाया। तब वह सती अपने पति का ध्यान करती हुई माता-पिता के पास ही रहने लगी।

उधर उसके पति ने स्वदेश पहुंचकर थोड़े ही दिनों में अपने साथ लाया हुआ धन जुए आदि में गंवा दिया। जब वह बिल्कुल कंगाल हो गया तो उसने सोचा, ''क्यों न अपने श्वसुर के पास जाकर फिर धन मांग लाऊं। मैं उनसे कहूंगा कि उनकी पुत्री उसके घर भली प्रकार रह रही है।''

ऐसा विचार कर वह ससुराल की ओर चल पड़ा। जैसे ही वह ससुराल के करीब पहुंचा, छत पर खड़ी, उसी दिशा में देखती उसकी पत्नी ने उसे पहचान लिया और तुरंत दौड़ते हुए नीचे उतर आई। दौड़कर वह उस पापी के चरणों में जा गिरी।

डरे हुए अपने पति को उसने वह सारा वृत्तांत कह सुनाया कि पहले किस प्रकार उसने झूठ-मूठ अपने पिता से डाकुओं के उपद्रव की बात कही थी।

सारी बात जानकर धनदत्त में हौसला पैदा हो गया और उसने निर्णय लेकर अपने श्वसुर के घर में प्रवेश किया। उसके श्वसुर ने प्रसन्नतापूर्वक अपने दामाद का स्वागत-सत्कार किया। इस प्रसन्नता में कि उसका दामाद डाकुओं की गिरफ्त से जीवित बच आया है, उसने अपने मित्रों और संबंधियों को बुलाकर महोत्सव मनाया। तत्पश्चात् धनदत्त वहां अपनी पत्नी सहित अपने श्वसुर के धन पर फिर से मौज करने लगा।

इतनी कथा सुनाकर मैना ने आगे का वृत्तांत कहा—''हे राजन, एक बार रात के समय उस नृशंस ने जो कुछ किया, वह यद्यपि कहने के योग्य नहीं है किंतु फिर भी कथा के प्रसंग में कहना पड़ रहा है। उस दुष्ट ने अपनी गोद में सोई हुई पत्नी की हत्या कर दी और उसके सारे गहने लेकर चुपचाप अपने देश की ओर चला गया।''

जब मैना ने आक्षेप लगाया कि पुरुष ऐसे पापी होते हैं, तो राजपुत्र ने तोते से कहा—''हे शुक, सारिका अपनी बात कह चुकी है। प्रत्युत्तर में तुम्हें जो भी कहना है, कहो।''

तब तोते ने उन्हें यह कथा सुनाई।

शुक द्वारा कही हुई कथा

तोता बोला—''हे देव ! स्त्रियां भयानक साहस वाली, दुश्चरित्रा और पापिनी होती हैं। इस संदर्भ में आप यह कथा सुनिए।''

हर्षवती नाम की एक नगरी में एक धनवान बनिया रहता था। वासुदत्ता नाम की उसकी एक कन्या थी, जो अत्यंत सुंदर थी। बनिया उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता था। उसने अपनी उस कन्या का विवाह समुद्रदत्त नाम के एक सजातीय युवक के साथ कर दिया जो सज्जनों के निवास-स्थान ताम्रलिपि में रहता था। समुद्रदत्त सज्जन था। वह वासुदत्ता के समान ही रूप-यौवन वाला था। सुंदर स्त्रियां उसकी ओर इस तरह टकटकी लगाए देखती थीं जैसे चंद्रमा को चकोर देखता है।

एक बार जब वासुदत्ता का पति अपने देश में था और वह अपने पिता के घर थी, तो उसने दूर से एक पुरुष को देखा। उस सुंदर युवक को देखकर वह चंचल स्त्री कामातुर हो गई और अपनी सखी द्वारा उसे गुप्त रूप से बुलवाकर उसके साथ काम-क्रीड़ाएं कीं। उसके बाद भी वह उससे गुप्त रूप से अनेकों बार मिली। उसकी उस सखी के अलावा किसी और को उसकी करतूतों का पता न चला।

एक दिन उसका पति अपने देश से वापस लौटा तो उसके सास-श्वसुर ने उसका बहुत आदर-सत्कार किया और उसे उचित मान-सम्मान दिया। अपनी इकलौती संतान वासुदत्ता का पति होने के कारण उनके लिए वह सबसे प्रिय व्यक्ति था।

वह सारा दिन उत्सव-उल्लास में बीता। रात में वासुदत्ता की माता ने अपनी बेटी को सजा-संवारकर उसके पति के शयनकक्ष में भेजा। किंतु एक ही सेज पर सोकर भी वह अपने पति के प्रति अनुरक्त न हुई। दूसरे पुरुष में मन लगा रहने के कारण, पति के आग्रह करने पर भी वह नींद आने का बहाना किए पड़ी रही। तब राह की थकावट और मदिरा के नशे से चूर उसके पति को जल्द ही नींद आ गई। धीरे-धीरे घर के सब लोग सो गए किंतु करवट लिए वासुदत्ता जागती हुई अपने प्रेमी के विचारों में खोई रही। तभी एक चोर उसके महल में दाखिल हुआ और वासुदत्ता को जागता हुआ महसूस कर एक अंधेरे कोने में सिमटकर खड़ा हो गया। वासुदत्ता अपने प्रेमी से मिलने को बेचैन हो रही थी। उसने अपने प्रेमी से दिन में ही यह मालूम कर लिया था कि रात के समय उन्हें कहां मिलना है। अतः वह चुपचाप उठी और खूब गहने पहनकर, सज-संवरकर, अपने प्रेमी से मिलने महल से निकल पड़ी।

यह देखकर उस चोर को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि 'जिन गहनों की चोरी करने मैं यहां आया हूं, वह गहने तो यह स्त्री पहनकर बाहर जा रही है। अतः इसका पीछा करके यह तो देखूं कि यह कहां जा रही है ? रास्ते में ही इसके गहने भी लूट लूंगा।' यही सोचकर वह चोर भी चुपचाप उस वणिकपुत्री पर नजर रखता हुआ, छिपकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

कुछ दूर जाने पर चोर ने देखा कि वणिकपुत्री की एक सखी उसके लिए कुछ फूल और मालाएं लिए एक उद्यान में घुस गई जहां उसके प्रेमी ने उससे मिलने का वचन दे रखा था।

वासुदत्ता जब प्रेमी द्वारा बताए मिलन-स्थल पर पहुंची तो उसने अपने प्रेमी को एक

वृक्ष पर मृत अवस्था में लटकता हुआ देखा। हुआ यूं था कि जब वह युवक चोरी-छिपे उद्यान में प्रवेश कर रहा था तो नगर रक्षकों ने उसे कोई चोर समझा और उसे पीट-पीटकर मार डाला। फिर उसी उद्यान में उसके गले में फांसी का फंदा डालकर उसे वृक्ष से लटका दिया। अपने प्रेमी को इस अवस्था में देखकर वासुदत्ता स्तब्ध रह गई। वह विह्वल और उद्भ्रांत होकर चीख पड़ी—"हाय मैं मारी गई।" तदोपरांत वह भूमि पर गिरकर करुण स्वर में विलाप करने लगी। जब वह कुछ चैतन्य हुई तो उसने अपने प्रेमी को वृक्ष से उतारकर भूमि पर रखा और उसे फूलों से सजाया।

प्रीति और शोक से उसका हृदय विवेकशून्य हो गया था। उसने उस निष्प्राण शरीर का आलिंगन किया और उसका मुख ऊपर उठाकर, वह ज्योंही उसका चुंबन करने चली, त्योंही उसके प्रेमी ने, जिसके शरीर में बेताल प्रविष्ट हो गया था, अचानक अपने दांतों से उसकी नाक काट ली।

पीड़ा से तिलमिलाकर वासुदत्ता तुरंत उससे दूर हट गई। लेकिन इस विचार से कि 'कहीं वह जीवित तो नहीं है ?" वह अभागिनी फिर से आकर उसे देखने लगी। जब उसने देखा कि उसके शरीर से बेताल चला गया है और वह निश्चेष्ट तथा मृत है, तब वह डर गई और हारी-सी, रोती हुई, धीरे-धीरे महल की ओर लौट पड़ी।

उस चोर ने छिपकर यह सारी बातें देखीं। उसने सोचा—'इस पापिनी ने यह क्या किया ? अरे, स्त्रियों का हृदय तो बहुत भयानक, घने अंधेरे से भरा, अंधे कुएं के समान और बड़ा गहरा होता है। चलूं, देखूं अब यह क्या करती है।' ऐसा सोचकर कौतूहल के कारण वह दूर से ही फिर उसका पीछा करने लगा।

वणिकपुत्री अपनी उस कोठरी में पहुंची, जहां उसका पति सोया पड़ा था। तब वह जोर-जोर से रोती हुई चिल्लाने लगी—"बचाओ...बचाओ। पति के रूप में इस दुष्ट ने मेरी नाक काट ली है।"

इस तरह बार-बार उसका रोना-चिल्लाना सुनकर उसके कुटुंबीजन और माता-पिता सभी घबराए हुए जागकर उनके शयनकक्ष में पहुंचे। वहां पहुंचकर जब उसके पिता ने देखा कि वासुदत्ता की नाक कटी हुई है और उसकी नाक से रक्त बह रहा है, तब उसके पिता ने क्रोध में आकर अपने जमाता को भार्याद्रोही जानकर रस्सी से बांध दिया।

वासुदत्ता की बातें सुनकर उसका पिता तथा अन्य सभी लोग समुद्रदत्त के प्रतिकूल हो गए थे। अतः बांधे जाने पर भी उसने गूंगे की तरह कुछ न कहा। इसी हो-हल्ले में धीरे-धीरे रात बीत गई। तब, सब कुछ जानता हुआ भी वह चोर, चुपके से वहां से चला गया।

समुद्रदत्त का श्वसुर वह बनिया, उसे तथा कटी नाक वाली अपनी बेटी को लेकर राजा के दरबार में पहुंचा। सारा वृत्तांत सुनने के बाद राजा ने समुद्रदत्त को दोषी मानते हुए उसे प्राणदंड की आज्ञा दे दी। अनंतर, जब बांधकर उसे वधस्थल की ओर ले जाया जा रहा था, तब वह चोर राजा के आदमियों के पास आकर बोला—"हे अधिकारियों,

अकारण ही इस व्यक्ति को प्राणदंड नहीं देना चाहिए। यह निर्दोष है, सारी बातें मैं जानता हूं। तुम लोग मुझे राजा के पास ले चलो, जिससे मैं उन्हें सारा वृत्तांत कह सकूं।''

उसके ऐसा कहने पर कर्मचारी उसे राजा के पास ले गए। वहां अभयदान मांगकर उस चोर ने आरंभ से उस रात की सारी बातें राजा को कह सुनाईं। उसने राजा से कहा—''महाराज, यदि आपको मेरी बातों पर विश्वास न हो तो सत्य की स्वयं ही जांच करवाएं। इसकी कटी हुई नाक अब भी उस शव के मुंह में है।''

यह सुनकर राजा ने देखने के लिए अपने अनुचरों को उद्यान में भेजा और जब सच्चाई मालूम हुई तो उसने समुद्रदत्त को रिहा कर दिया। राजा ने उस दुष्टा पत्नी के कान भी कटवा दिए और उसे देश-निकाला दे दिया। उसने उसके श्वसुर की सारी धन-संपत्ति भी जब्त करवा ली। इतना ही नहीं, उस चोर पर प्रसन्न होकर उसे नगर का अध्यक्ष भी नियुक्त कर दिया।

इतनी कथा सुनकर तोते ने राजा से कहा—''हे राजन, इस संसार में स्त्रियां ऐसी दुष्टा और स्वभाव से विषम होती हैं।'' इतना कहते ही, उस तोते पर से इंद्र का श्राप जाता रहा और वह चित्ररथ नाम का गंधर्व बनकर, दिव्य शरीर धारण कर स्वर्ग को चला गया। उसी तरह तत्काल ही मैना का भी श्राप दूर हो गया और वह भी तिलोत्तमा नाम की अप्सरा बनकर सहसा ही स्वर्ग चली गई।

यह कथा सुनाकर बेताल ने राजा विक्रमादित्य से पूछा—''राजन, तोता-मैना के अपने-अपने आक्षेपों का निराकरण हो गया था। अब तुम बताओ कि स्त्रियां निंदित होती हैं अथवा पुरुष ? जानते हुए भी यदि तुम कुछ नहीं बताओगे तो तुम्हारा मस्तक टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा।''

कंधे पर बैठे हुए बेताल की बातें सुनकर राजा ने कहा—''हे बेताल, निदिंत तो स्त्रियां ही होती हैं। पुरुष शायद ही कोई, कभी और कहीं, वैसा दुराचारी होता है लेकिन ज्यादातर स्त्रियां प्रायः सभी जगह और सदा ही, वैसी होती हैं।''

राजा के ऐसा कहते ही बेताल पहले की तरह फिर उसके कंधे से गायब हो गया। राजा भी उसे वापस लेने के लिए फिर से उसी वृक्ष की ओर चल पड़ा।

❑❑❑

चौथा बेताल
वीरवर की कथा

महाश्मशान के उस शिंशपा-वृक्ष से राजा विक्रमादित्य ने बेताल को फिर से नीचे उतारा और पहले की ही तरह उसे अपने कंधे पर डालकर वापस लौट चला।

कुछ आगे चलने पर बेताल ने फिर राजा से कहा—'राजन, उस दुष्ट भिक्षु के लिए तुम इतना परिश्रम क्यों कर रहे हो ? इस निष्फल परिश्रम में तुम्हारा विवेक भी तो नहीं दीख पड़ता। फिर भी, मार्ग-विनोद के लिए तुम मुझसे यह कथा सुनो।"

इस धरती पर अपने नाम को सच करने वाली शोभावती नाम की एक नगरी है। वहां शूद्रक नाम का राजा राज करता था। उसके राज्य में प्रजा हर प्रकार से सुखी थी। शूद्रक सच्चे अर्थों में प्रजापालक था। प्रजा को उस पर अटूट आस्था एवं विश्वास था।

वीरों पर प्रीति रखने वाले उस राजा के पास नौकरी करने की इच्छा से एक बार मालवा से वीरवर नाम का एक ब्राह्मण आया। उसके परिवार में तीन व्यक्ति थे—उसकी गर्भवती स्त्री धर्मवती, पुत्र सत्यवर तथा कन्या वीरवती। इसी तरह वे तीनों ही सेवा के लिए उसके सहायक थे जो कमर में कृपाण, एक हाथ में तलवार और दूसरे में ढाल लिए सदैव उसकी सेवा में तत्पर रहते थे।

वीरवर राजा शूद्रक के दरबार में पहुंचा और अपने आने का उद्देश्य कहा तो राजा ने उसके व्यक्तित्व से, बोलचाल के ढंग से प्रभावित होकर उसे दास रखना स्वीकार कर लिया। किंतु वीरवर ने जब पांच सौ स्वर्णमुद्राएं प्रतिदिन के हिसाब से पारिश्रमिक मांगा तो राजा कुछ हिचकिचाहट में पड़ गया। उसने वीरवर को नौकरी तो दे दी किंतु गुप्त रूप से उसकी जांच कराने का भी निर्णय कर लिया। उसने अपने गुप्तचर को आदेश दे दिए कि वीरवर के बारे में अच्छी तरह छानबीन करके यह पता लगाएं कि उसका परिवार कितना बड़ा है और इतने पैसों का वह उपयोग किस प्रकार करता है।

वीरवर नित्यप्रति राजा से मिलकर, हाथों में हथियार लिए मध्याह्न तक उसके सिंहद्वार पर ही खड़ा रहता था और फिर राजा से प्राप्त वेतन में से प्रतिदिन सौ स्वर्णमुद्राएं अपनी पत्नी को घर के खर्च के लिए दे देता था। बाकी चार सौ स्वर्णमुद्राओं में से सौ स्वर्णमुद्राओं से वस्त्र, आभूषण और ताम्बूल आदि खरीदता था। एक सौ स्वर्णमुद्राएं स्नान के पश्चात् विष्णु और शिव की पूजा में खर्च करता था, शेष दो सौ स्वर्णमुद्राओं को वह ब्राह्मण और दरिद्रों को दान में देता था। इस प्रकार प्रतिदिन राजा से प्राप्त पांच-सौ स्वर्णमुद्राओं का उपयोग करता था।

अनन्तर, दैनिक कार्यों से निबटकर वह भोजन करता और फिर रात में राजा के सिंहद्वार पर जाकर, हाथ में तलवार लिए पहरा दिया करता था। राजा शूद्रक ने जब अपने गुप्तचरों से उसका प्रतिदिन का नियम सुना, तो वह मन-ही-मन बहुत संतुष्ट हुआ। राजा ने उसे पुरुषों में श्रेष्ठ और विशेष रूप से आदर के योग्य समझा तथा उसका पीछा करने वाले गुप्तचरों को रोक दिया।

इसी तरह दिन बीतते रहे। वीरवर ने कठोर धूपवाली गर्मी के दिन सहज ही बिता दिए। घनघोर वर्षा के कष्टदायी दिन भी वह उसी तरह अपने कर्त्तव्य हेतु अटल रहकर सिंहद्वार पर बिताता रहा। शूद्रक ने कई बार रातों में स्वयं जाकर उसकी जांच की किंतु हर बार उसने वीरवर को अपनी नौकरी पर मुश्तैद पाया।

एक बार जब राजा प्रजा का हालचाल जानने के उद्देश्य से रात को महल से बाहर निकल रहा था तो उसने दूर कहीं से आती हुई किसी स्त्री के रोने की आवाज सुनी। उस आवाज में बहुत दर्द, करुणा और दुख-विह्वलता भरी हुई थी। राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि 'मेरे राज्य में न तो कोई सताया हुआ है, न ही कोई दरिद्र है और न ही कोई दुखी। तो फिर यह स्त्री कौन है और इस भयंकर रात्रि में, जब सर्वत्र घनघोर वर्षा हो रही हो, क्यों इस प्रकार करुण-रुदन कर रही है ?'

राजा को उस पर बहुत दया आई। उसने वीरवर से कहा—"वीरवर, सुनो। दूर कोई स्त्री करुण स्वर में रुदन कर रही है। तुम जाकर पता लगाओ कि वह कौन है और क्यों रो रही है ?" राजा की बात सुनकर वीरवर ने 'जो आज्ञा' कहा और अपनी कमर में कटार खोंसकर हाथों में तलवार लिए तुरंत वहां से निकल पड़ा।

बाहर घनघोर वर्षा हो रही थी। रह-रहकर बिजली कौंध रही थी और बादल ऐसे गरज रहे थे जैसे फट पड़ने के लिए वे बेचैन हो रहे हों। वीरवर को इतनी कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ ऐसे बुरे मौसम में भी राजाज्ञा का पालन करने के लिए जाते देख राजा को उस पर बहुत दया आई। उसे कौतूहल भी हुआ, इसलिए वह भी उसके पीछे-पीछे हाथ में तलवार लिए लुकता-छिपता हुआ चल पड़ा।

उसका अनुसरण करता हुआ वीरवर नगर के बाहर जा पहुंचा। वहां उसने एक सरोवर के किनारे एक स्त्री को विलाप करते देखा जो बार-बार—"हा वीर—हा कृपालु—हा स्वामी—हा त्यागी, तुम्हारे बिना कैसे रहूंगी ?" कहती वह हुई रो रही थी।

वीरवर ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"हे सुभगे, तुम कौन हो और रात के इस प्रहर में इस प्रकार क्यों रो रही हो ?"

तब वह स्त्री बोली—"हे वीरवर, मैं पृथ्वी हूं। इस समय मेरे स्वामी राजा शूद्रक हैं, जो धर्मात्मा हैं। आज से तीसरे दिन उनकी मृत्यु हो जाएगी। फिर, मैं उनके समान किस दूसरे राजा को अपने स्वामी के रूप में पाऊंगी ? यही गम मुझे खाए जा रहा है। इसी शोक से दुखी होकर मैं उनके तथा अपने लिए विलाप कर रही हूं।"

यह सुनकर वीरवर ने उससे कहा—"हे देवी ! क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे जगत के रक्षक उस राजा की मृत्यु को रोका जा सके ?"

"हां, है।" स्त्री के रूप में धरती बोली—"और वह उपाय केवल तुम ही कर सकते हो, वीरवर।"

"तो देवी, मुझे वह उपाय शीघ्रता से बतलाइए, जिससे मैं उसे कर सकूं। नहीं तो मेरे जीवन का कुछ भी अर्थ नहीं रह जाएगा।"

यह सुनकर पृथ्वी ने कहा—"वत्स ! तुम्हारे समान वीर और स्वामिभक्त दूसरा कौन है ? अतः तुम राजा के कल्याण का उपाय सुनो। यहां से कुछ दूर देवी चंडिका का एक मंदिर है। यदि तुम अपने पुत्र की बलि देवी चंडिका को दे दो, तो राजा की मृत्यु नहीं होगी, वह सौ वर्ष तक और जी सकेंगे। यदि तुम आज ही यह कामं कर सको तो ठीक है अन्यथा आज से तीसरे दिन राजा की मृत्यु अवश्यम्भावी है।"

इस पर कर्त्तव्यनिष्ठ वीरवर ने कहा—"देवी, अपने स्वामी का जीवन बचाने के लिए मैं कुछ भी करने को सदैव ही तत्पर हूं। मैं आज ही जाकर यह कार्य करता हूं।"

"तुम्हारा कल्याण हो वत्स।" तब ऐसा कहकर पृथ्वी अन्तर्ध्यान हो गई।

छिपकर पास ही खड़े राजा ने उन दोनों का वार्तालाप सुना और वह 'वीरवर आगे क्या करता है' इसकी प्रतीक्षा करने लगा।

घर पहुंचकर वीरवर ने अपनी पत्नी धर्मवती को जगाया और राजा के लिए पुत्र की बलि देने के लिए धरती ने जो कुछ कहा था, वह उसे कह सुनाया। सुनकर उसकी पत्नी ने कहा—"नाथ, स्वामी का जीवन अवश्य बचाना चाहिए। आप इसी समय अपने पुत्र को बुलाकर उससे सारा वृत्तांत कहें।"

तब वीरवर ने अपने बालक सत्यवर को जगाकर सारा वृत्तांत उसे बताया और कहा—"बेटा, चंडिका देवी को तुम्हारी बलि दिए जाने पर ही हमारे स्वामी बच पाएंगे, नहीं तो आज से तीसरे दिन उनकी मृत्यु हो जाएगी।"

यह सुनते ही उस बालक ने अपने नाम को सार्थक करते हुए निर्भीक होकर कहा—"पिताजी, यदि मेरे प्राणों के बदले हमारे स्वामी का जीवन बचता है तो मैं इस कार्य को सहर्ष करने को तैयार हूं। मैने जो उनका अन्न खाया है, मैं उससे उऋण हो जाऊंगा। आप तुरंत मेरी बलि का प्रबंध कीजिए, जिससे मुझे शांति मिल सके।"

सत्यवर के ऐसा कहने पर वीरवर ने कहा—"बेटा, तुम धन्य हो। तुम सचमुच ही मेरे पुत्र हो। मुझे तुम पर बहुत गर्व है।"

वीरवर के पीछे-पीछे आए हुए राजा ने ये सारी बातें सुनी। उसने सोचा—'अरे, ये तो सभी एक ही जैसे वीर है।'

अनंतर, वीरवर ने अपने बेटे सत्यवर को कंधे पर उठा लिया। उसकी पत्नी

धर्मवती ने अपनी बेटी वीरवती को ले लिया और रात के समय चंडिका के मंदिर में गए। राजा शूद्रक भी छिपकर उनके पीछे-पीछे गया।

मंदिर में पहुंचकर वीरवर ने देवी के सम्मुख अपने बेटे को कंधे से उतारा। सत्यवर ने बड़े धैर्य से देवी को प्रणाम किया और कहा—"हे देवी ! मेरे मस्तक का उपहार स्वीकार करो जिससे हमारे स्वामी राजा शूद्रक अगले सौ वर्षो तक जीवित रहकर निष्कंटक राज कर सकें।"

वीरवर ने पुत्र के ऐसा कहते ही, 'धन्य-धन्य' कहते हुए अपनी तलवार निकाली और उससे अपने पुत्र का मस्तक काटकर देवी चंडिका को अर्पण करते हुए कहा—"हे देवी, मेरे पुत्र के इस बलिदान से हमारे स्वामी सौ वर्ष तक जीवित रहें।"

उसी समय अंतरिक्ष से आकाशवाणी हुई—"हे वीरवर, तुम धन्य हो। तुम्हारे समान स्वामिभक्त और कोई नहीं है जिसने अपने एकमात्र गुणी पुत्र का बलिदान देकर अपने राजा शूद्रक को जीवन दिया है।"

राजा शूद्रक छिपकर ये सारी बातें देख और सुन रहे थे। तभी वीरवर की कन्या वीरवती आगे बढ़ी और मरे भाई के मस्तक को आलिंगन करती हुई. शोक से विह्वल बुरी तरह से रोने लगी। तदनंतर उसने भी भाई के शोक में अपने प्राण त्याग दिए।

यह देखकर वीरवर की पत्नी ने कहा—"हे स्वामी ! राजा का कल्याण तो हो गया। अब मैं भी आपसे कुछ कहती हूं। हमारा पुत्र चला गया, हमारी बेटी ने उसके शोक में अपने प्राण त्याग दिए, तो मै भी अब जीकर क्या करूंगी ? मुझ मूर्ख ने राजा के कल्याण के लिए पहले ही देवी को अपना मस्तक क्यों अर्पित नहीं किया ? इसलिए अब मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि मुझे भी आज्ञा दें कि मैं अपने बच्चों के शरीरों के साथ अग्नि में प्रवेश करूं।"

जब धर्मवती ने आग्रहपूर्वक ऐसा कहा तो वीरवँर बोला—"हे मनस्विनी ! ठीक है, तुम ऐसा ही करो। तुम्हारा कल्याण हो। एकमात्र बच्चों का शोक ही जिसके पास बच रहा है, ऐसे में तुमको अब जीवन से क्या अनुराग है ? तुम्हें इस बात का दुख होना चाहिए कि मैंने पहले ही अपने प्राण क्यों नहीं त्याग दिए। यदि किसी और के मरने से राजा का कल्याण होता, तो मैं पहले ही अपना जीवन उत्सर्ग न कर देता ? किंतु तुम थोड़ी देर ठहर जाओ, तब तक मैं तुम्हारी चिता हेतु कुछ लड़कियों का प्रबंध कर देता हूं।"

यह कहकर वीरवर ने लकड़ियों की एक चिता तैयार की। अग्नि से उसे प्रज्ज्वलित किया और उस चिता पर दोनों बच्चों के शव रख दिए।

तब उसकी धर्मपरायण पत्नी उसके पैरों में जा गिरी। उस पतिव्रता ने देवी को प्रणाम करके कहा—"हे दवी, मुझे आशीर्वाद दीजिए कि अगले जन्म में भी यही आर्यपुत्र मेरे पति हों और यही राजा मेरे स्वामी। मेरे इस शरीर-त्याग से इनका कल्याण हो।"

यह कहकर वह साध्वी स्त्री भयानक लपटों वाली उस चिता की अग्नि में इस प्रकार कूद पड़ी, मानो जल में कूद पड़ी हो।

इसके बाद पराक्रमी वीरवर ने सोचा—'आकाशवाणी के अनुसार राजा का काम तो मैं पूरा कर चुका हूं। मैंने राजा का जो नमक खाया था, उससे उऋण हो गया, अब मुझ अकेले को ही अपने जीवन से मोह क्यों रखना चाहिए ? जो मरण करने योग्य थे, प्यारे थे, उन सभी अपने कुटुंबीजनों का नाश करके, अकेला अपने को जीवित रखने वाला मुझ जैसा कौन अभागा व्यक्ति होगा ? तो फिर मैं भी क्यों न अपने शरीर की बलि देकर देवी को प्रसन्न करूं ?''

ऐसा सोचकर वह देवी को प्रसन्न करने के लिए उसकी स्तुति करने लगा—''हे देवी, हाथों में शूल धारण करने वाली, महिषासुर मर्दिनी, जगत्‌जननी तेरी जय हो। हे माता सर्वव्यापिनी ! आप देवताओं को प्रसन्नता देने वाली हैं। तीनों लोकों को धारण करने वाली हैं। हे माता, सारा संसार तुम्हारे चरणों की वंदना करता है। अपने भक्तों की मुक्ति के लिए तुम ही शरण-रूप हो। तुम्हारी जय हो।

''हे काली, जय कापालिनी, जय कंकालिनी, हे कल्याणमयी, आपको नमस्कार है। मेरे मस्तक का उपहार स्वीकार कर तुम राजा शूद्रक पर प्रसन्न हो।''

तत्पश्चात् देवी की स्तुति करके वीरवर ने झटपट तलवार से अपना मस्तक काट डाला।

वहां छिपकर शूद्रक ये सारी बातें देख रहा था। दुख से विकल होकर उसने आश्चर्यपूर्वक सोचा— 'हे भगवान, मेरे लिए इस सज्जन पुरुष और इसके परिवार ने यह कैसा दुष्कर कार्य कर डाला। ऐसा तो न कहीं देखा अथवा सुना गया। इस विचित्र संसार में इसके जैसा धीर-वीर पुरुष और कहां मिलेगा जो बिना कहे-सुने परोक्ष में अपने स्वामी के लिए अपने प्राणों तक अर्पित कर दे। यदि इसके उपकार का प्रत्युपकार मैं न कर सकूं तो मेरे राजा होने का अर्थ ही क्या रह गया ? फिर तो मेरे और एक पशु के जीवन में कोई अंतर ही नहीं है।''

ऐसा सोचकर राजा शूद्रक ने अपनी तलवार म्यान से निकाली और देवी की प्रतिमा के सामने प्रार्थना की—''हे भगवती, मैं आपकी शरण में आ रहा हूं। अतः आप मेरे मस्तक का उपहार लेकर प्रसन्न हों और मुझ पर कृपा करें। अपने नाम के अनुरूप आचरण करने वाले इस वीरवर ने मेरे लिए ही अपने प्राणों का त्याग किया है, अतः मेरे प्राण लेकर आप प्रसन्न हों और वीरवर तथा उसके पुत्र-पुत्री एवं पत्नी को पुनर्जीवित कर दें।''

यह कहकर राजा ने ज्योंही तलवार से अपना मस्तक काटना चाहा, तभी आकाशवाणी हुई—''हे राजन, तुम ऐसा दुस्साहस मित करो। मैं तुम्हारी वीरता से प्रसन्न हूं। मेरा आशीर्वाद है कि यह ब्राह्मण तत्काल अपने परिवार सहित जीवित हो जाएगा।''

इतना कहकर आकाशवाणी मौन हो गई। वीरवर भी अपने पुत्र, कन्या तथा पत्नी सहित अक्षत-शरीर होकर जी उठा। यह दृश्य देखकर राजा फिर छिप गया और प्रसन्नता के आंसुओं से भरी आंखों से उन्हें देखता रहा।

वीरवर ने अपने बच्चों तथा स्त्री सहित अपने को भी सोता हुआ-सा देखा और उसका मन भ्रांत हो गया। वीरवर ने अपनी पत्नी और बच्चों को अलग-अलग ले जाकर पूछा—''तुम लोग तो आग में जलकर भस्म हो गए थे, फिर जीवित कैसे हो गए ? और मैंने भी तो अपना मस्तक काट डाला था, मैं भी जीवित बचा हूं। यह मेरी भ्रांति है या देवी ने सचमुच हम पर कृपा की है ?''

वीरवर के ऐसा कहने पर उसकी पत्नी एवं बच्चों ने कहा—''पिताश्री, हम लोग सचमुच जीवित हो गए हैं। यह देवी का अनुग्रह है। यद्यपि हम अभी तक यह बात जान नहीं पाए हैं।''

वीरवर ने भी यही समझा कि ऐसी ही बात है। पर उसका काम पूरा हो चुका था, अतः वह अपनी स्त्री एवं बच्चों सहित अपने घर लौट आया। घर पर स्त्री एवं बच्चों को छोड़कर, उसी रात वह पहले की तरह फिर से राजा की ड्योढ़ी पर पहुंचा और अपनी नौकरी पर मुश्तैद हो गया। यह देखकर राजा शूद्रक भी, सबकी आंखें बचाकर, फिर अपने महल की छत पर जा चढ़ा।

वहां से राजा ने पुकारकर पूछा—''ड्योढ़ी पर कौन है ?'' तब वीरवर ने कहा—''स्वामी, यहां मैं हूं। आपकी आज्ञा से मैं उस स्त्री को देखने गया था। पर, मेरे देखते ही देखते वह गायब हो गई।''

वीरवर की यह बात सुनकर राजा को बड़ा विस्मय हुआ, क्योंकि उसने तो सारा हाल अपनी आंखों के सामने देखा था। वह सोचने लगा—'यह कैसा मनस्वी पुरुष है जो धीर-वीर एवं समुद्र के समान गंभीर है। अभी-अभी इसने जो कुछ किया है, उसका एक शब्द भी अपने मुंह पर लाना नहीं चाहता। धन्य है वीरवर। ऐसे वीर पुरुष सौभाग्य से ही किसी-किसी को नसीब हुआ करते हैं।''

इसी तरह की बातें सोचता हुआ राजा चुपचाप महल की छत से उतर आया। बाकी की रात उसने अन्तःपुर में जाकर बिता दी।

सवेरे वीरवर राजदरबार में राजा के दर्शन करने गया। उसके कार्यों से प्रसन्न राजा ने पिछली रात का सारा विवरण अपने मंत्रियों से कह सुनाया। सुनकर वे सभी आश्चर्य के सागर में डूब गए।

राजा ने प्रसन्न होकर वीरवर तथा उसके पुत्र को कर्णाट का राज्य दे दिया। राज्य पाकर अब वे दोनों समान वैभव वाले तथा एक-दूसरे का फल चाहने वाले बन गए। इस प्रकार राजा शूद्रक और राजा वीरवर दोनों ही सुखपूर्वक रहने लगे।

बेताल ने यह अद्भुत कथा सुनाकर राजा विक्रमादित्य से पूछा—''हे राजन !

यह बतलाओ कि उन दोनों में से बड़ा वीर कौन था ? जानते हुए भी यदि तुम नहीं बताओगे तो तुम्हें पहले की तरह ही शाप लगेगा।''

यह सुनकर राजा ने बेताल को उत्तर दिया—''हे बेताल, उन दोनों में से बड़ा राजा शूद्रक ही था।''

बेताल बोला—''राजन, सबसे बड़ा वीर क्या वीरवर नहीं था ? उसने तो स्वयं राजा के कल्याण हेतु अपना मस्तक तक काट डाला था। या फिर उसकी पत्नी, उसने भी तो अपना बलिदान दिया था। उसके पुत्र सत्यवर ने भी कौन-सा कम वीरता का काम किया था। राजा के कल्याण हेतु उसने भी तो सहर्ष मां चंडिके को अपना मस्तक अर्पण कर दिया था। वह तो बालक होने पर भी वीरता का उत्कर्ष था। तब फिर तुम शूद्रक को सबसे बड़ा वीर किसलिए कर रहे हो ?''

बेताल के इस कथन पर विक्रमादित्य बोला—''हे बेताल ! ऐसी बात नहीं है। वीरवर का जन्म ऐसे कुल में हुआ था, जिसके बालक अपने प्राण, अपने स्त्री और अपने बच्चों की बलि देकर भी स्वामी की रक्षा अपना परम धर्म मानते हैं। वीरवर की पत्नी भी कुलीन वंश की थी, वह पतिव्रता थी। वह पति को ही अपना एकमात्र देवता मानती थी। पति के मार्ग पर चलने के अतिरिक्त उसका कोई दूसरा कार्य नहीं था। उनसे उत्पन्न सत्यवर भी उन्हीं के समान था। जाहिर है जैसा सूत होगा, वैसा ही कपड़ा भी तैयार होगा। लेकिन, जिन चाकरों से राजा लोग अपने जीवन की रक्षा करवाते हैं, राजा शूद्रक उन्हीं के लिए अपने प्राण त्यागने को उद्यत हो गया था। अतः उन सब में वही विशिष्ट था।''

राजा की बातें सुनकर बेताल अपनी माया के द्वारा, अचानक उसके कंधे से उतरकर फिर गायब हो गया और पुनः अपने स्थान पर जा पहुंचा। राजा विक्रमादित्य भी उसे फिर से ले आने का निश्चय करके वापस शिंशपा-वृक्ष की ओर चल पड़ा।

पांचवां बेताल
सोमप्रभा की कथा

शिंशपा-वृक्ष से विक्रम ने पहले की भांति ही बेताल को नीचे उतारा और उसे कंधे पर लादकर चुपचाप आगे बढ़ चला। कुछ आगे चलने पर बेताल ने फिर मौन भंग किया। वह बोला—"राजन, तुम एक कष्टकर कार्य में लगे हुए हो, जिससे मुझे तुम अत्यंत प्रिय हो गए हो। अतः रास्ते में तुम्हारे श्रम को भुलाने के लिए तुम्हें मैं यह कहानी सुनाता हूं।"

बहुत पहले उज्जयिनी में हरिस्वामी नाम का एक सद्‌गुणी ब्राह्मण रहता था। वह राजा पुष्यसेन का प्रिय सेवक एवं मंत्री था। उस गृहस्थ ब्राह्मण की पत्नी भी उसी के अनुरूप थी। हरिस्वामी की दो संतानें थीं। बडा देवस्वामी नाम का एक पुत्र और छोटी एक कन्या, जिसका नाम सोमप्रभा था। सोमप्रभा बहुत ही सुंदर थी और अपने रूप-लावण्य के लिए प्रसिद्ध थी।

जब सोमप्रभा के विवाह का समय आया तो उसने अपने पिता से कहा—"पिताश्री, यदि आप मेरा विवाह करने के इच्छुक हैं तो किसी वीर, ज्ञानी अथवा अलौकिक विद्याएं जानने बाले के साथ करें। अन्यथा मैं किसी और से विवाह नहीं करूंगी।"

यह सुनकर हरिस्वामी उसके लिए उसकी रुचि का वर ढूंढने के लिए चिंतित रहने लगे। उसी समय राजा ने हरिस्वामी को अपना दूत बनाकर, दक्षिण देश के एक राजा के साथ संधि करने के लिए भेजा क्योंकि वह राजा युद्ध करने के लिए तैयार हो रहा था। जब उसने वहां जाकर अपना कार्य संपन्न कर लिया, तब उसके पास एक श्रेष्ठ ब्राह्मण आया। उसने हरिस्वामी की कन्या के रूप-लावण्य की बात सुन रखी थी। उसने अपने लिए उसकी कन्या की मांग की।

हरिस्वामी ने कहा—"मेरी कन्या पति के रूप में या तो अलौकिक विद्याएं जानने वाले को या ज्ञानी अथवा वीर व्यक्ति को ही स्वीकार करेगी, अन्य किसी को नहीं। अतः आप बतलाएं कि आप इनमें से कौन हैं ?" इस पर उस ब्राह्मण ने कहा—"हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं अलौकिक विद्याओं का ज्ञाता हूं।"

हरिस्वामी ने तब उससे अपनी विद्या का कुछ चमत्कार दिखलाने को कहा।

उस ब्राह्मण ने अपनी विद्या के प्रभाव से तत्काल एक आकाशगामी रथ तैयार कर दिया। फिर उस ब्राह्मण ने हरिस्वामी को अपने उस मायावी रथ में बैठाया और उसे स्वर्ग आदि लोक दिखला लाया। इसके बाद संतुष्ट हुए हरिस्वामी को वह दक्षिण देश के राजा की उस सेना के पास लौटा लाया, जहां वह अपने काम से आया था।

तब हरिस्वामी ने उस अलौकिक विद्याएं जानने वाले पुरुष के साथ अपनी कन्या
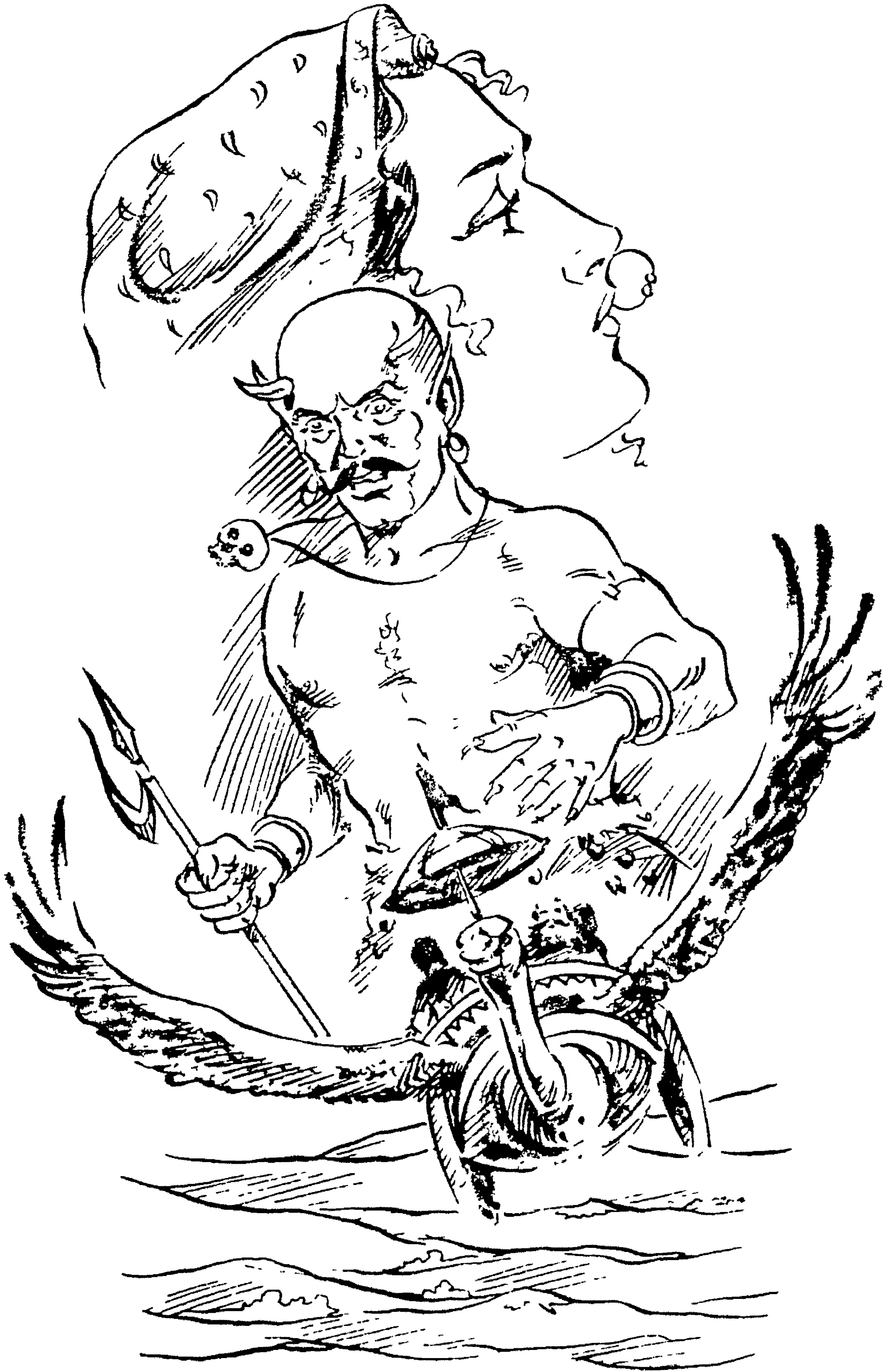
ब्याहने का वचन दिया एव सातवें दिन विवाह की तिथि निश्चित कर दी। उसी समय उज्जयिनी मे एक दूसरे ब्राह्मण ने हरिस्वामी के पुत्र देवस्वामी के पास आकर उसकी बहन से विवाह करने की याचना की। देवस्वामी ने जब उसे अपनी बहन की शर्तें बताई तो वह ब्राह्मण अपनी विद्या का कौशल दिखाने को तत्पर हो गया और उसने अपने अस्त्र-शस्त्रों के कौशल का प्रदर्शन किया। यह देख देवस्वामी ने उसी के साथ अपनी बहन का विवाह करने का निश्चय कर लिया। अपनी माता की अनुपस्थिति में उसने भी ज्योतिषियों के कथनानुसार सातवें दिन ही विवाह का निश्चय कर लिया।

उसी समय एक तीसरे व्यक्ति ने भी सोमप्रभा की माता के सम्मुख स्वयं को ज्ञानी बताते हुए उसकी बेटी से विवाह करने की याचना की। उसने ज्ञानी होने का प्रमाण भी दिया जिससे प्रभावित होकर सोमप्रभा की माता ने उससे सातवें दिन अपनी कन्या का विवाह करने का वचन दिया।

अगले दिन हरिस्वामी घर लौट आया। आकर उसने अपनी पत्नी और पुत्र को बताया कि वह कन्या का विवाह निश्चित कर आया है। इस पर उन दोनों ने भी अलग-अलग बतलाया कि उन्होंने क्या निश्चय किया है। उनकी बातें सुनकर हरिस्वामी चिंता में पड़ गया कि एक-साथ तीन व्यक्तियों के साथ उसकी कन्या का विवाह कैसे होगा ?

अनन्तर, विवाह की निश्चित तिथि को ज्ञानी, वीर और अलौकिक विद्याएं जानने वाला, ये तीनों ही वर हरिस्वामी के घर पहुंचे। इसी समय एक विचित्र बात हो गई। ब्राह्मण की कन्या सोमप्रभा, जो वधु बनने वाली थी, अचानक कहीं गायब हो गई। ढूंढने पर भी उसका कोई पता न चला।

तब घबराए हुए हरिस्वामी ने ज्ञानी पुरुष से कहा—"हे ज्ञानी, अब झटपट यह बताइए कि मेरी कन्या कहां है ?"

यह सुनकर ज्ञानी ने अपने ज्ञान द्वारा पता करके उसे बतलाया—"हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आपकी कन्या को धूमशिख नाम का एक राक्षस उठाकर विंध्याचल के वन में स्थित अपने घर में ले गया है।"

ज्ञानी द्वारा ऐसा बताए जाने पर हरिस्वामी भयभीत हो गया। वह बोला—"हाय-हाय, अब वह कैसे मिलेगी और उसका विवाह भी कैसे होगा ?" यह सुनकर अलौकिक विद्याएं जानने वाला युवक बोला—"आप धैर्य रखें। ज्ञानी के कथनानुसार वह कहां ले जाई गई है, मैं अभी आपको वहां ले चलता हूं।"

यह कह क्षण-भर में ही उसने सभी अस्त्रों से सजा एक आकाशगामी यान बनाया और उस पर हरिस्वामी, ज्ञानी तथा वीर को चढ़ाकर उन्हें विंध्याचल के उस वन में ले गया, जहां ज्ञानी ने राक्षस का भवन बताया था। यह वृत्तांत जानकर राक्षस क्रोधित हो गया और वह गर्जना करता हुआ बाहर निकल आया।

तब हरिस्वामी के कहने पर वह वीर पुरुष आगे बढ़कर उस राक्षस से लड़ने लगा। तरह-तरह के अस्त्रों से लड़ने वाले उन दोनों, मनुष्य और राक्षस, का युद्ध बड़ा आश्चर्यजनक हुआ। अपनी भार्या के लिए जिस तरह राम-रावण से लड़े थे, वैसे ही ये दोनों भी लड़ने लगे। कुछ ही देर में उस वीर ने एक अर्द्धचंद्राकार बाण से युद्ध में मतवाले उस राक्षस का मस्तक काट गिराया। राक्षस के मारे जाने पर वे सभी अलौकिक विद्याएं जानने वाले ब्राह्मण के रथ से वापस लौट पड़े।

हरिस्वामी के घर पहुंचकर, विवाह का समय आने पर उस ज्ञानी, वीर एवं अलौकिक विद्याएं जानने वाले के बीच झगड़ा पैदा हो गया। ज्ञानी ने कहा—''यदि मैं न जानता कि सोमप्रभा कहां छिपाकर रखी गई है तो उसका पता कैसे चल पाता ? इसलिए उसका विवाह मेरे साथ ही होना चाहिए।''

इस पर अलौकिक विद्याओं के ज्ञाता ने कहा—''यदि मैं आकाशगामी रथ न बनाता तो पल-भर में वहां आना-जाना कैसे हो पाता ? रथ पर बैठे राक्षस के साथ, बिना रथ के युद्ध भी कैसे संभव होता ? इसलिए यह कन्या मुझे ही मिलनी चाहिए। यह विवाह मैंने जीता है।''

तब उस वीर ने भी अपना पक्ष उनके सामने रखा। वह बोला—''यदि मैंने अपनी शक्ति से उस राक्षस का संहार न किया होता तो आप लोगों के प्रयत्न करने पर भी इस कन्या को कैसे वापस लाया जा सकता था ? इसलिए इन कन्या पर तो मेरा ही अधिकार बनता है। यह कन्या मुझे ही मिलनी चाहिए।'' इस प्रकार उन तीनों का झगड़ा सुनकर हरिस्वामी का मन उद्भ्रांत हो गया और वह अपना सिर पकड़कर बैठ गया।

इतनी कथा सुनाकर बेताल ने विक्रम से पूछा—''राजन ! अब तुम्हीं बताओ कि वह कन्या किसको मिलनी चाहिए ? ज्ञानी को, वीर को अथवा अलौकिक विद्याएं जानने वाले उस व्यक्ति को ? सब कुछ जानते हुए भी यदि तुम इसका उत्तर नहीं दोगे तो तुम्हारा सिर फटकर कई टुकड़ों में बंट जाएगा।''

बेताल की यह कथा सुनकर, अपना मौन तोड़ते हुए विक्रम बोला—''बेताल, वह कन्या उस वीर को ही मिलनी चाहिए, क्योंकि उसी ने उद्यम करके, अपने बाहुबल द्वारा उस राक्षस को युद्ध में मारा और उस कन्या को अर्जित किया था। विधाता ने ज्ञानी और अलौकिक विद्याएं जानने वाले को तो उसका काम करने के लिए माध्यम मात्र बनाया था।

''तुमने ठीक उत्तर दिया राजन।'' बेताल तत्काल बोल उठा—''पर तुम अपनी शर्त भूल गए। तुमने मौन भंग किया और शर्त के अनुसार मैं फिर स्वतंत्र हो गया।''

यह कहकर बेताल राजा के कंधे से उतरकर वापस उसी शिंशपा-वृक्ष की ओर उड़ गया।

❑❑❑

छठा बेताल

रजक-कन्या की कथा

राजा विक्रमादित्य ने पुनः उस शिशपा-वृक्ष से बेताल को उतारा और मौन भाव से उसे कंधे पर डालकर अपने गन्तव्य की ओर चल पड़ा।

मार्ग में फिर बेताल ने मौन भंग करके कहा—''राजन, तुम वीर हो, बुद्धिमान हो, इसीलिए मेरे प्रिय हो। अतएव मैं तुम्हें एक मनोरंजक कथा सुनाता हूं। इससे तुम्हारा ज्ञानवर्द्धन तो होगा ही, रास्ते के भय से भी तुम्हें मुक्ति मिलेगी।'' बेताल ने कथा आरंभ की।

शोभावती नामक एक नगरी में एक राजा राज करता था। उसका नाम था—यशकेतु। राज्य की उस राजधानी में देवी गौरी का एक उत्तम मंदिर था। मंदिर से दक्षिण में गौरी तीर्थ नाम का एक सरोवर था। वहां प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ल-चतुर्दशी को एक मेला लगता था। भिन्न-भिन्न दिशाओं से बड़े-बड़े लोग वहां स्नान करने आया करते थे। एक बार उक्त तिथि को ब्रह्मस्थल नाम के एक गांव का धवल नामक एक युवक धोबी वहां स्नान करने आया।

उस तीर्थ में स्नान करने हेतु आई हुई, शुद्धपट की पुत्री मदनसुन्दरी को उसने देखा, और उसके रूप-सौंदर्य पर मोहित हो गया।

घर लौटकर वह बेचैन रहने लगा। उसने खाना-पीना भी छोड़ दिया। उसकी मां ने उसके बेचैन रहने का कारण पूछा तो धवल ने अपने मन की बात अपनी मां को बताई। उसकी मां ने अपने पति को जाकर सारी बातें बताई तो उसके पिता ने कहा—''बेटा, जिसके मिलने में कोई कठिनाई नहीं है, उसके लिए तुम इस प्रकार शोक क्यों कर रहे हो ? मेरे मांगने पर शुद्धपट तुमको अपनी कन्या दे देगा क्योंकि कुल में, धन में और कर्म में हम उसके समान ही हैं। मै उसे जानता हूं, वह भी मुझे जानता है—इसलिए यह कार्य मेरे लिए दुष्कर नहीं है।''

इस तरह बेटे को समझा-बुझाकर उसने उसे खाने-पीने के लिए राजी कर लिया। दूसरे दिन उसका पिता विमल उसे लेकर शुद्धपट के पास पहुंचा। वहां जाकर उसने अपने बेटे के लिए उसकी कन्या मांगी। उसके पिता ने आदरपूर्वक इसके लिए वचन दिया।

अगले दिन, विवाह का लग्न निश्चित करके उसने अपनी कन्या का विवाह धवल के साथ कर दिया। देखते ही जिस पर वह आसक्त हो गया था, ऐसी सुन्दरी से विवाह करके, सफल मनोरथ होकर धवल उस स्त्री सहित पिता के घर लौट आया। उन दोनों को सुखपूर्वक रहते हुए जब कुछ समय बीत गया, तब धवल का साला अर्थात् मदनसुन्दरी का भाई वहां आया।

सभी संबधियो ने उसका आदर-सत्कार किया। बहन ने गले लगाकर उसका अभिवादन किया, फिर कुशलता पूछी। तत्पश्चात् कुछ देर विश्राम कर लेने के बाद उसके भाई ने उन लोगो से कहा —"पिताजी ने मुझे मदनसुन्दरी और मेरे बहनोई को निमंत्रित करने के लिए यहां भेजा है क्योंकि वहां देवी पूजन का उत्सव है।"

सभी संबंधियों ने उसकी बातें मान लीं और उस दिन उचित भोजनपान के द्वारा उसका उचित स्वागत-सत्कार किया। सवेरा होने पर धवल ने अपनी पत्नी सहित अपने साले के साथ ससुराल के लिए प्रस्थान किया।

शोभावती नाम की उस नगरी के निकट पहुंचकर, धवल ने गौरी का विशाल मंदिर देखा। उसने अपने साले और पत्नी से श्रद्धापूर्वक कहा—"आओ, हम लोग माता गौरी के दर्शन कर लें।"

यह सुनकर साले ने उसे रोकते हुए कहा—"नही जीजाजी, अभी नहीं। अभी तो हम सब खाली हाथ है। पहले माता गौरी के लिए कुछ भेंट लाएंगे, तत्पश्चात् ही दर्शन करेंगे।"

"तब मैं स्वयं अकेला ही जाता हू। तुम यहीं ठहरो क्योकि देवताओं को भेंट की अपेक्षा भक्त से श्रद्धा और विश्वास की अधिक अपेक्षा रहती है।" ऐसा कहकर धवल अकेला ही देवी दर्शन के लिए चला गया।

मंदिर में जाकर उसने श्रद्धापूर्वक देवी को नमन किया। फिर उसने सोचा—'लोग विविध प्राणियों की बलि देकर इस देवी को प्रसन्न करते हैं। मै सिद्धि पाने के लिए अपनी ही बलि देकर इन्हें क्यों न प्रसन्न करूं ?' ऐसा सोचकर वह मंदिर के एकान्त गर्भगृह से एक तलवार ले आया, जिसे किसी यात्री ने पहले ही देवी को अर्पित किया था। मंदिर में लटकते हुए घंटे की जंजीर से उसने अपने केशों द्वारा अपने सिर को बांध लिया और तलवार से अपना सिर काटकर देवी को अर्पित कर दिया। गर्दन कटते ही वह भूमि पर आ गिरा।

जब वह बहुत देर तक नही लौटा तो उसे देखने के लिए उसका साला उस देवी के मंदिर मे गया। मस्तक कटे अपने बहनोई को देखकर वह घबरा गया और उसी तरह उसने भी उस तलवार से अपना सिर काट डाला। जब वह भी लौटकर नहीं आया, तब मदनसुन्दरी का मन बहुत विकल हो गया और वह भी देवी के मंदिर में गई।

अन्दर जाकर जब उसने अपने पति और भाई का वह हाल देखा तो शोकाकुल हो वह भूमि पर गिर पड़ी और—'हाय यह क्या हुआ ? मैं मारी गई।' कहती हुई विलाप करने लगी।

इस प्रकार अचानक ही उन दोनों की मृत्यु पर शोक करती हुई, वह कुछ पल बाद उठ खड़ी हुई और सोचने लगी कि—'अब मुझे भी जीवित रहकर क्या करना है ?'

तब शरीर त्याग के लिए उद्यत वह सती स्तुति करने लगी—"हे देवी, तुम
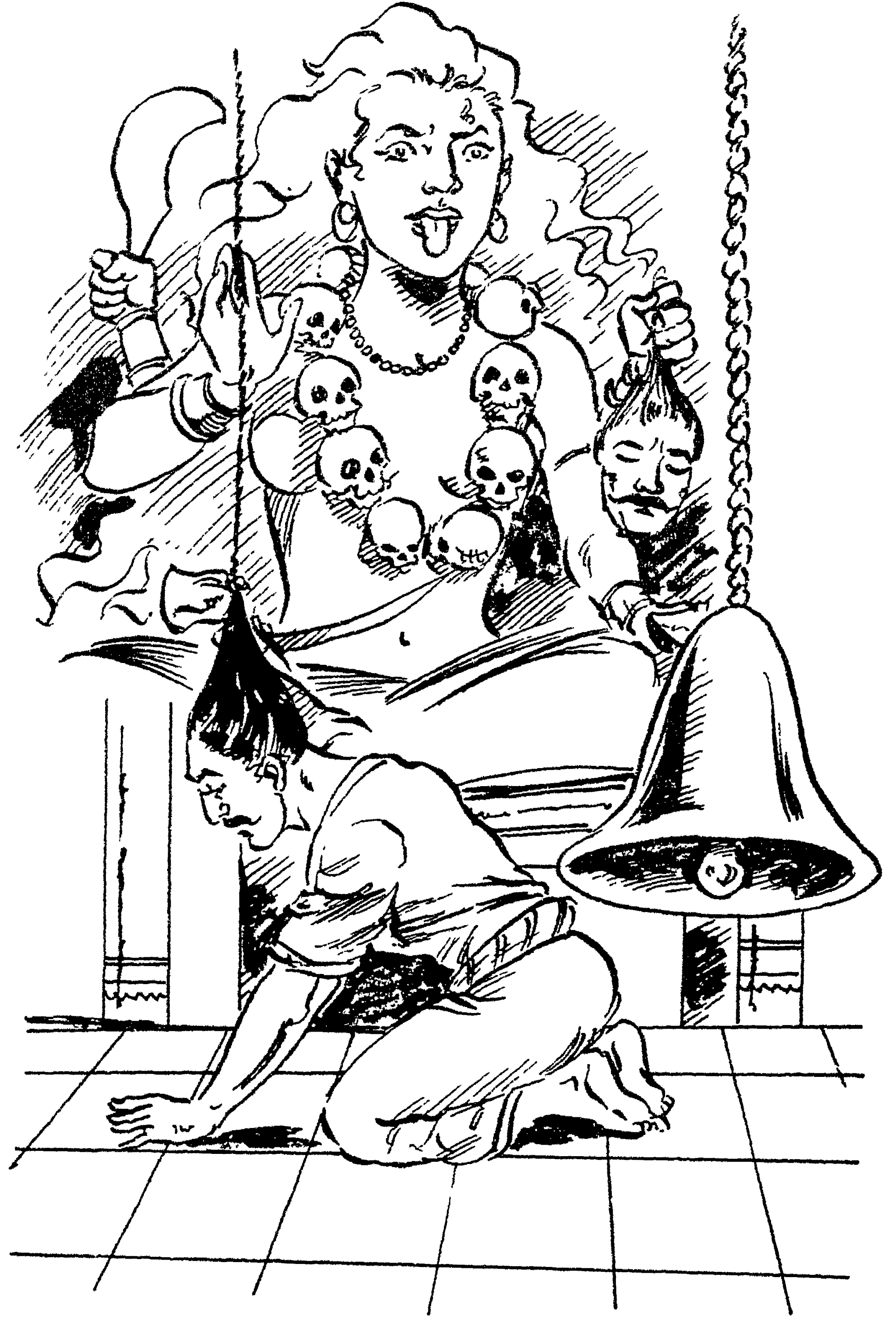
सौभाग्य और सतीत्व की अधिष्ठात्री हो। तुम अपने पति कामरिपु (शिव) के अर्ध शरीर में निवास करती हो, तुम संसार की सभी स्त्रियों की शरणदायिनी हो। तुम दुखों का नाश करने वाली हो। फिर तुमने मेरे पति और भाई को मुझसे क्यों छीन लिया ? मै तो सदा तुम्हारी ही भक्ति करती रही हूं। मेरे प्रति तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। हे मां, मैं तुम्हारी शरण में आई हूं अतः तुम मेरी प्रार्थना सुनो। दुर्भाग्य से लुटे हुए इस शरीर का अब मै त्याग करती हूं। अगले जन्म में मैं जब भी, जहां भी जन्म लूं, पति व भाई के रूप में मुझे ये ही दोनों प्राप्त हों।''

इस प्रकार स्तुतिपूर्वक देवी से निवेदन करके उसने उन्हें पुनः प्रणाम किया और लताओं के द्वारा अशोक वृक्ष पर एक फंदा तैयार किया। फंदे को फैलाकर ज्योंही उसने अपने गले मे डाला, त्योंही आकाशवाणी हुई—''बेटी, ऐसा दुस्साहस मत करो। अल्पव्यस्का होकर भी तुमने जो इतना साहस दिखलाया है, उससे मै प्रसन्न हूं। फंदा हटा दो। तुम अपने पति और भाई के शरीरों पर उनके सिर जोड़ दो। मेरे वर से ये दोनों जीवित हो जाएंगे।''

यह सुनकर मदनसुन्दरी प्रसन्नता से अधीर हो गई। उसने अपने गले से फंदा निकाल दिया और घबराहट में बिना विचारे, उसने पति का सिर भाई के शरीर पर और भाई का सिर पति के धड़ पर जोड़ दिया।

तब देवी के वरदान से वे दोनों जीवित उठ खड़े हुए। उनके शरीर में कहीं कटने-फटने के निशान भी नहीं थे, लेकिन सिरों के बदल जाने से उनके शरीरों में संकरता आ गई थी।

अनन्तर, उन दोनों ने एक-दूसरे को अपनी-अपनी कथा सुनाकर प्रसन्नता प्राप्त की। उन्होंने भगवती गौरी को प्रणाम किया और फिर तीनों अपने इष्ट स्थानों की ओर चल पड़े।

राह में जाती हुई मदनसुन्दरी ने देखा कि उसने उनके सिरो की अदला-बदली कर दी है, तब वह घबरा गई और समझ न सकी कि उसे क्या करना चाहिए।

इतनी कथा सुनाकर बेताल ने राजा विक्रम से पूछा—''राजन्, अब तुम यह बतलाओ कि शरीरों के इस प्रकार मिल जाने पर उसका पति कौन हुआ ? जानते हुए भी यदि तुम न बतलाओगे तो तुम पर पहले कहा हुआ शाप पड़ेगा।''

तब बेताल के इस प्रश्न का उत्तर विक्रमादित्य ने इस प्रकार दिया—'हे बेताल, उन दोनों में से जिस शरीर पर उसके पति का सिर था, वही उसका पति है। क्योंकि सिर ही अंगों में प्रधान है और उसी से मनुष्य की पहचान होती है।

राजा के इस प्रकार सही उत्तर देने पर बेताल उसके कंधे से उतरकर चुपचाप चला गया। राजा भी अपनी उत्तर देने की भूल स्वीकार करते हुए पुनः उसे पाने के लिए शिंशपा-वृक्ष की ओर चल पड़ा।

सातवां बेताल
सत्त्वशील की कथा

राजा विक्रमादित्य ने पुनः शिशपा-वृक्ष के समीप जाकर बेताल को नीचे उतारा और उसे कंधे पर उठाकर वापस लौट पड़ा। उसे लेकर जब वह वहां से चला तो मार्ग में बेताल फिर बोला—"राजन ! मुझे पाने के लिए तुम बहुत ही परिश्रम कर रहे हो। तुम्हारे श्रम को भुलाने के लिए इस बार मैं तुम्हें एक नई कथा सुनाता हूं।"

पूर्व सागर के तट पर ताम्रलिप्त नाम की एक नगरी है। प्राचीन काल में वहां चंद्रसेन नाम का एक राजा राज करता था। वह राजा महाप्रतापी था। वह शत्रुओं का धन तो छीन लेता था किंतु पराए धन या संपत्ति को हाथ भी नहीं लगाता था। वह पर-स्त्रियो से तो मुंह फेरे रहता था किंतु रणभूमि मे अपने दुश्मनों का वध करते हुए उसे तनिक भी संकोच नहीं होता था।

एक बार उस राजा की ड्योढी पर दक्षिण का सत्त्वशील नामक एक राजकुमार आया। उसने राजा के पास अपने आने की सूचना भिजवाई और अपने अन्य साथियों सहित उनके सम्मुख अपनी निर्धनता दिखाने के लिए, चीथड़े फाड़े।

वह वहां प्रत्याशी बनकर अनेक वर्षो तक राजा की सेवा करता रहा किंतु राजा से कोई पुरस्कार न पा सका। तब उसने सोचा—'राजकुल मे जन्म पाने के बाद भी मैं इतना दरिद्र क्यों हूं ? और दरिद्र होने पर भी मेरे मन में विधाता ने इतनी महत्त्वाकांक्षा क्यो दी है ? मै अपने साथियों के साथ इस प्रकार राजा की सेवा कर रहा हूं और भूख से कष्ट पा रहा हू, फिर भी राजा ने हमारी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा।'

सत्त्वशील यह बातें सोच ही रहा था कि एक दिन राजा आखेट को निकला। घोड़ों और पैदल चलने वालों के साथ वह भी राजा के साथ वन में गया। आखेट करते हुए राजा ने उस वन में एक विशाल मतवाले सुअर का दूर से पीछा किया। उसका पीछा करता हुआ वह बहुत दूर एक दूसरे वन में जा पहुचा। वहां घास-पात से ढके मैदान में सुअर गायब हो गया और थके हुए राजा को उस महावन में, दिशाभ्रम हो गया। हवा से बातें करने वाले घोड़े पर सवार राजा के पीछे-पीछे भूख और प्यास से व्याकुल सत्त्वशील उसे खोजता हुआ पैदल ही किसी प्रकार उसके पास पहुचा।

उसे ऐसी बुरी हालत में देखकर राजा ने स्नेहपूर्वक पूछा—"सत्त्वशील, क्या तुम वह मार्ग जानते हो, जिससे हम यहां आए थे ?"

यह सुनकर सत्त्वशील ने हाथ जोड़कर कहा—"हां, श्रीमान ! मैं वह मार्ग

जानता हूं। लेकिन अभी कुछ देर यहां विश्राम करें, क्योंकि अभी बहुत तेज गर्मी है। सूर्य देवता अभी बहुत तेजी से अपने तेज को पृथ्वी पर फैला रहे है।''

''ठीक है।'' राजा ने कहा—''पर तुम यह तो देखो कि ऐसे में कहीं पानी भी मिल सकता है या नहीं ? प्यास के कारण मेरा गला सूख रहा है।''

''देखता हूं श्रीमंत्।'' यह कहकर सत्त्वशील एक ऊंचे वृक्ष पर चढ़ गया, जहां से उसे एक नदी दिखाई पड़ी।

वृक्ष से उतरकर वह राजा को वहां ले गया, तत्पश्चात् राजा को जल पिलाकर उसकी थकान दूर की। राजा के पानी पी लेने के पश्चात् उसने अपने कपड़े की खूंट से कुछ मधुर आंवले निकाले और उन्हें धोकर राजा के समक्ष पेश किया।

जब राजा ने उससे यह पूछा कि—''यह कहां से लाए ?'' तब वह अंजलि में आंवले लिए हुए घुटनों के बल बैठ गया और राजा से बोला—''हे स्वामी, मैं पिछले दस वर्षों से इन आंवलों पर ही निर्वाह करता हुआ बौद्धमुनि का व्रत धारण करके आपकी आराधना कर रहा हूं।''

''इसमें संदेह नहीं कि सच्चे अर्थो में तुम्हारा मन सत्त्वशील है।'' ऐसा कहकर कृपावश उस राजा ने सोचा—'उन राजाओं को धिक्कार है जो सेवकों का दुख नहीं जानते और उनके मंत्रियों को भी धिक्कार है जो अपनी वैसी स्थिति राजा को नहीं बतलाते।' यह सोचकर, सत्त्वशील के बहुत कहने-सुनने पर राजा ने उसके हाथ से दो आंवले लेकर खाए और जल पीया। अनन्तर, सत्त्वशील ने भी जल पीया और राजा के साथ वहां कुछ देर विश्राम किया।

बाद में सत्त्वशील ने घोड़े पर जीन कसी और उस पर राजा को सवार कराया। वह स्वयं राह दिखाता हुआ आगे-आगे चला। राजा के बहुत कहने पर भी वह उसके घोड़े पर पीछे नहीं बैठा। रास्ते में राजा के बिछुड़े हुए सैनिक भी मिल गए और सबको साथ लेकर वे राजधानी लौट आए।

राजधानी में पहुंचकर राजा ने उसकी स्वामिभक्ति का वृत्तांत सबको सुनाया लेकिन उसे भरपूर धन और धरती देकर भी अपने को उऋण नहीं माना। इस तरह सत्त्वशील कृतार्थ हुआ। प्रत्याशी का रूप छोड़कर राजा चंद्रसेन के निकट रहने लगा।

एक बार राजा ने उसे अपने लिए सिंहल नरेश की कन्या मांगने हेतु सिंहल द्वीप भेजा। समुद्र मार्ग से जाने के लिए सत्त्वशील ने अपने अभीष्ट देवता का पूजन किया और राजा की आज्ञा से ब्राह्मणों सहित जहाज पर सवार हुआ। जहाज जब आधे रास्ते में पहुंचा, तभी अचानक एक आश्चर्य हुआ। उस समुद्र के भीतर से एक ध्वज ऊपर उठा। वह ध्वज उत्तरोत्तर ऊपर उठता गया और उसकी ऊंचाई बहुत अधिक हो गई। उस ध्वज का दंड सोने से बना हुआ था और उस पर रंग-बिरंगी पताकाएं फहरा रही थीं। अचानक उसी समय आकाश में घटाएं घिर आईं, मूसलाधार वर्षा होने लगी और हवा की गति तीव्र हो उठी।

जिस प्रकार हाथी को बलपूर्वक खींचा जाता है, उसी प्रकार वर्षा और वायु के द्वारा खिचकर सत्त्वशील का जहाज उस ध्वज-स्तंभ से जा बंधा। उस जहाज पर जो ब्राह्मण थे, वे भयभीत होकर अपने राजा चंद्रसेन को पुकारते हुए चिल्लाने लगे—"हे राजन, हमें बचा लो। यह क्या अनर्थ हो रहा है।"

जब उनका रोना-चिल्लाना सत्त्वशील से न सुना गया तो वह स्वामिभक्त हाथ में तलवार लेकर अपने वस्त्र समेटकर ध्वज के निकट समुद्र में कूद पड़ा। वास्तविक कारण न जानने पर भी उसने समुद्र के इस उपद्रव का प्रतिकार करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी।

सत्त्वशील जब समुद्र में कूदा, तब वायु के प्रचंड झोंकों और समुद्र की लहरों ने उसके जहाज को दूर फेंक दिया। जहाज खंड-खंड हो गया और उसमें बैठे लोग समुद्री जलचरों का भोजन बन गए। सत्त्वशील ने समुद्र में डुबकी लगाने के बाद जब चारों तरफ देखा तो वहां समुद्र के बदले उसे एक सुन्दर नगरी दिखाई पड़ी। उस नगरी में मणियों के खम्बों वाले चमकते स्वर्ण-भवन थे, उत्तम रत्नजड़ित गलियां थीं और शोभा से परिपूर्ण अनेक उद्यान थे।

वहां उसने मेरु पर्वत के समान ऊंचा कात्यायनी देवी का मंदिर देखा, जिसकी दीवारें अनेक प्रकार की मणियों से बनी थीं और जिसके ध्वज पर अनेक वर्णों के रत्न टंके थे। वहां देवी को प्रणाम करके स्तुतिपूर्वक उनका पूजन करके वह यह सोचता हुआ कि 'यह कैसा इंद्रजाल है', देवी के सम्मुख बैठ गया।

इसी समय किवाड़ खोलकर देवी के आगे वाले प्रभामंडल से अचानक ही एक अलौकिक कन्या निकल आई। उसकी आंखें इन्दीवर के समान थीं और शरीर खिले हुए कमल जैसा। हंसी फूलों की तरह थी और शरीर के अंग कमलनाल के समान कोमल थे। वह किसी चलती-फिरती खिली कमलिनी के समान थी। अपनी सखियों से घिरी वह कन्या देवी मंदिर के प्रकोष्ठ से बाहर निकल आई किंतु सत्त्वशील के हृदय से किसी भी तरह न निकल सकी। वह फिर उस प्रभामंडल के भीतर चली गई और सत्त्वशील भी उसी के पीछे-पीछे चल पड़ा।

प्रभामंडल में प्रवेश करके सत्त्वशील ने देवताओं के योग्य एक दूसरा नगर देखा। वह नगर मानो समस्त भोग-संपदाओं के मिलन-उद्यान के समान था।

वहां उसने उस कन्या को एक मणि-पर्यक पर बैठे देखा। सत्त्वशील भी आगे बढ़कर उसके समीप ही बैठ गया। चित्रलिखित-सा सत्त्वशील, टकटकी लगाकर उस कन्या की ओर देखने लगा। उसके अंग कांप रहे थे और शरीर रोमांचित हो रहा था जिससे आलिंगन की उत्कंठा प्रकट होती थी। सत्त्वशील को इस प्रकार कामातुर देखकर कन्या ने अपनी सखियों की ओर देखा। उसका इशारा समझ कर सखी बोली—"आप यहां हमारे अतिथि हैं, श्रीमंत, अतः हमारी स्वामिनी का आतिथ्य ग्रहण कीजिए। उठिए, चलकर स्नान करके, उसके बाद भोजन कीजिए।"

यह सुनकर सत्त्वशील को कुछ आशा बधी और वह नहाने के लिए उस कन्या की सखी के साथ एक सरोवर की ओर चल पडा जो वही निकट ही था।

सत्त्वशील ने सरोवर मे डुबकी लगाई लेकिन जब वह ऊपर आया तो वहां का सारा दृश्य ही बदला हुआ नजर आया। वह कन्या और उसकी सखियां गायब हो चुकी थीं और वह स्वयं भी ताम्रलिप्त नगर में राजा चंद्रसेन के उद्यान के एक तालाब में आ पहुंचा था। यह देखकर मत्त्वशील को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—'अरे, यह कैसा आश्चर्य है ! मै तो उस अलौकिक नगरी के सरोवर में नहाने के लिए जल में उतरा था और आ पहुंचा यहा। वह कन्या और उसकी सखियां भी गायब है, तो उस कन्या ने मुझे मूर्ख बनाया है ?''

यह सोचता हुआ वह उस उद्यान में घूमने और विलाप करने लगा। कन्या से मिलने की इच्छा में उसकी दशा पागलों जैसी हो गई।

उस उद्यान के माली ने उसे ऐसी हालत में देखा तो उसने तुरंत राजा चंद्रसेन को सूचना पहुंचाई। इस पर राजा चंद्रसेन स्वयं ही सत्त्वशील को देखने अपने उद्यान में पहुंचा। राजा चंद्रसेन ने उसे सांत्वना दी और पूछा—''मित्र, तुम्हें यह पागलपन कैसे हो गया ? मुझे बताओ मित्र, शायद मैं कुछ तुम्हारी सहायता कर सकूं।''

सांत्वना-भरे शब्द सुनकर सत्त्वशील के हृदय को थोड़ा धैर्य-सा मिला, तब उसने अपने साथ जो कुछ भी घटा था, सब सिलसिलेवार राजा चंद्रसेन से कह सुनाया।

सुनकर राजा ने कहा—''तुम व्यर्थ का शोक मत करो, मित्र। मैं तुम्हें उसी मार्ग से ले जाकर तुम्हारी प्रिया, उस असुर कन्या के पास पहुंचा दूंगा।''

अगले दिन मंत्री को राज्य-भार सौंपकर और एक जहाज पर सवार होकर राजा चंद्रसेन सत्त्वशील के साथ चल पड़ा। बीच समुद्र में पहुंचकर सत्त्वशील ने पहले की ही तरह पताका के साथ ध्वज को उठता देखकर राजा से कहा—''यही वह दिव्य प्रभाव वाला महाध्वज है। ध्वज के पास जब मैं कूद पडूं तब आप भी कूद जाइएगा। तब वे दोनों ध्वज के निकट पहुंचे और जब ध्वज डूबने लगा, तब बीच में ही सत्त्वशील समुद्र में कूदा। डुबकी लगाने के बाद वे दोनों उसी दिव्य नगर में जा पहुंचे। वहां राजा ने आश्चर्यपूर्वक देखते हुए देवी पार्वती को प्रणाम किया और सत्त्वशील के साथ वहीं बैठ गया।

उसी समय उस प्रभामंडल से अपनी सखियों सहित वह कन्या बाहर निकल आई, जिसे देखकर सत्त्वशील ने बताया—''राजन, यही है वह सुन्दरी, जिससे मै प्रेम करने लगा हूं।''

उस कन्या ने भी राजा को देख लिया था। वह कन्या जब कात्यायनी देवी के मंदिर में पूजन करने चली गई तो राजा चंद्रसेन सत्त्वशील को साथ लेकर उद्यान में चला गया।

कन्या जब पूजन समाप्त करके मंदिर से बाहर निकली तो उसने अपनी सखी से कहा—"सखी, जरा जाकर देखो तो मैने जिन महापुरुष को यहां देखा था, वे कहां है ? मुझे वह कोई श्रेष्ठ व पूज्य पुरुष महसूस हुए थे, अतः उनसे प्रार्थना करो कि वे यहां पधारें और हमारा आतिथ्य स्वीकार करें।"

सखी जब राजा चंद्रसेन और सत्त्वशील के पास पहुंची और उन्हें कन्या का संदेश सुनाया तो चंद्रसेन ने उपेक्षा से कहा—"हमारा इतना ही आतिथ्य बहुत है। अधिक की कोई आवश्यकता नहीं है।"

कन्या की सखी ने लौटकर जब यही बात उसे बताई तो वह असुर कन्या उससे मिलने को और भी व्यग्र हो गई। इस बार वह स्वयं उन दोनों के पास पहुंची और उनसे आतिथ्य ग्रहण करने का निवेदन किया। इस पर राजा चंद्रसेन ने सत्त्वशील की ओर संकेत करते हुए उस कन्या से कहा—"मै इनके कहने के अनुसार देवी का दर्शन करने के लिए ध्वज-मार्ग से यहां आया था। मैंने माता कात्यायनी के परम अद्‌भुत मंदिर और उसके बाद तुमको भी देखा। उसके बाद हमें और किस आतिथ्य की आवश्यकता है ?"

यह सुनकर वह कन्या बोली—"तब आप लोग त्रिलोक में अद्‌भुत मेरे दूसरे नगर को देखने के लिए कौतूहल से ही मेरे साथ चलिए।" उस कन्या के ऐसा कहने पर राजा चंद्रसेन ने हंसकर कहा—"इस सत्त्वशील ने मुझे उसके बारे में भी बतलाया है, वहां पर स्नान करने के लिए एक सरोवर भी है।"

तव उस कन्या ने कहा—"देव, आप ऐसी बात न कहें। मै यों ही धोखा देने वाली नहीं हूं। तब फिर, आप जैसे पूज्य को कैसे धोखा दे सकती हूं। मैं आप लोगों की वीरता के उत्कर्ष से आपकी अनुचरी हो गई हूं। अतः आपको इस प्रकार मेरी प्रार्थना अस्वीकार नहीं करनी चाहिए।"

असुर कन्या का ऐसा आग्रह सुनकर राजा चंद्रसेन मान गया और वह सत्त्वशील सहित प्रभा-मंडल के निकट जा पहुंचा। वह कन्या उन्हे किसी प्रकार खुले दरवाजे से अंदर ले गई, जहां उन्होंने उसके दूसरे अलौकिक नगर को देखा। वह सचमुच एक विलक्षण नगर था। वहां सभी वस्तुएं सदा वर्तमान रहती थीं। वृक्षों में फूल और फल बने रहते थे और वह समूची नगरी रत्न तथा सुवर्ण से बनी हुई थी। उस नगरी की भव्यता ऐसी थी जैसे वे दोनों सुमेरु पर्वत पर आ पहुंचे हों।

असुर कन्या ने एक सुन्दर कक्ष में उन्हें ले जाकर बहुमूल्य रत्न जड़ित सिहासन पर बैठाया और अनेक प्रकार से उनका आतिथ्य सत्कार करके अपना परिचय दिया—"मैं असुरराज कालनेमि की कन्या हूं। मेरे पिताजी की मृत्यु चक्रधारी विष्णु के चक्र से हुई थी। यहां जरा (वृद्धापन) और मृत्यु की बाधा नहीं होती और सभी मनोकामनाएं स्वतः ही पूरी हो जाती है।" फिर उसने राजा चंद्रसेन सें प्रार्थना की—"अब आप ही मेरे पिता हैं और इन दोनों नगरों के साथ मैं आपके अधीन हूं। मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आप मुझे अनुग्रहित कीजिए।" इस प्रकार जब उस

कन्या ने अपना सब कुछ राजा को सौप दिया, तब वह कन्या से बोला—"बेटी। यदि ऐसी ही बात है तो मैं तुम्हें इस सत्त्वशील के साथ विवाह बंधन में बांधता हूं। यह वीर है, धीर है और दोषरहित है। अब यह मेरा मित्र भी है और संबंधी भी।"

राजा के इस आग्रह को असुर कन्या ने तत्काल स्वीकार कर लिया और सत्त्वशील के साथ विवाह रचा लिया। सत्त्वशील के मन की साध पूरी हो गई और उसने राजा चंद्रसेन का बहुत-बहुत आभार माना। विदाई के समय राजा चंद्रसेन ने सत्त्वशील से कहा—"मित्र, तुम्हारे मैंने दो आंवले खाए थे। उनमें से एक का ऋण तो मैंने चुका दिया है, एक का ऋण मुझ पर अभी बाकी है।" फिर उसने असुर कन्या से कहा—"बेटी, मुझे मार्ग दिखलाओ क्योंकि अब मैं अपने नगर को लौट जाना चाहता हूं।" राजा के ऐसा कहने पर उस असुर कन्या ने उन्हें 'अपराजित' नाम का खड्ग और खाने के लिए एक ऐसा फल दिया जिससे न तो राजा पर कभी बुढ़ापा आए और न ही उसे मृत्यु का भय सताए।

फिर उन दोनों चीजों को लेकर असुर कन्या द्वारा बतलाए सरोवर में डुबकी लगाकर राजा वापस अपने देश जा पहुंचा। सत्त्वशील भी सुखपूर्वक उस असुर कन्या के साथ दोनों नगरों पर शासन करने लगा।

यह कथा सुनाकर बेताल ने विक्रमादित्य से पूछा—"राजन, अब तुम मुझे यह बतलाओ कि समुद्र में डुबकी लगाने का उन दोनों में से किसने अधिक साहस दिखाया ? जानते हुए भी यदि तुम इस प्रश्न का उत्तर न दोगे तो तुम्हारे सिर के कई टुकड़े हो जाएंगे।"

तब बेताल के प्रश्न का उत्तर राजा ने इस प्रकार दिया—"हे बेताल, उन दोनों में मुझे सत्त्वशील ही अधिक साहसी लगा क्योंकि वह वस्तुस्थिति को न जानते हुए, बिना किसी आशा के समुद्र में कूदा था। जबकि, राजा चंद्रसेन को सभी बातें पहले से ही मालूम थीं और वह विश्वास के साथ समुद्र में कूदा था। वह असुर कन्या को भी नहीं जानता था क्योकि वह जानता था कि इच्छा होने पर भी वह उसे पा नहीं सकेगा।"

"तुमने सही उत्तर दिया राजन ! किंतु मेरे प्रश्न का उत्तर देने में तुमने अपना मौन भंग कर दिया इसलिए मैं चला।" यह कहकर बेताल विक्रमादित्य के कंधे से खिसककर पुनः उसी वृक्ष की ओर उड़ गया।

राजा भी उसी प्रकार फिर से उसे लाने के लिए तेजी से लौट पड़ा।

❑❑❑

आठवां बेताल
तीन चतुर पुरुषों की कथा

पहले की तरह राजा विक्रमादित्य फिर उस शिंशपा (शीशम) के वृक्ष के पास जा पहुंचा। बेताल को वृक्ष से उतारकर उसने कंधे पर डाला और मौन भाव से अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा।

कुछ आगे चलने पर बेताल ने फिर मौन भंग किया और राजा से बोला—"राजन! उस योगी के कारण तुम सचमुच बहुत परिश्रम कर रहे हो। तुम्हारे परिश्रम की थकान मिटाने के लिए मै तुम्हें एक और कथा सुनाता हूं किंतु शर्त वही रहेगी। कहानी सुनाते समय मौन ही रहना, अन्यथा मैं फिर इसी स्थान पर लौट आऊंगा।"

राजा की सहमति पर बेताल ने फिर एक कथा सुनाई।

अंगदेश में 'वृक्षघट' नाम का एक ग्राम था जो ब्राह्मणों को दान में मिला था। वहां विष्णुस्वामी नाम का एक बहुत धनवान अग्निहोत्री ब्राह्मण रहता था। उस ब्राह्मण के तीन पुत्र थे जो अपने पिता के समान ही बुद्धिमान थे। एक बार उनके पिता ने एक यज्ञ का आयोजन किया, जिसके निमित्त उसने अपनी तीनों पुत्रों से एक कछुआ लाने को कहा। पिता की आज्ञा मानकर उसके तीनों पुत्र एक समुद्र तट पर कछुआ लाने के लिए पहुंचे। कछुआ पाकर सबसे बड़े भाई ने छोटे भाइयों से कहा—"सुनों बंधुओं, मुझे तो इस कछुए की दुर्गंध और चिकनेपन से घृणा हो रही है। अतः पिताजी के यज्ञ के लिए तुम दोनों ही इसे उठाओ और ले जाकर पिताजी को सौप दो।"

इस पर उसके दोनों छोटे भाइयो ने कहा—"यदि तुम्हें इससे घृणा है तो हमको क्यों न होगी ? अतः जब तक तुम इसे ले जाने में सहयोग नहीं करोगे, हम इसे लेकर नहीं जाएंगे।"

यह सुनकर बड़ा भाई बोला—"तुम्हें इसे लेकर जाना ही होगा। यदि तुम इसे लेकर नहीं गए तो पिताजी का यज्ञ पूरा नहीं हो सकेगा और तुम लोग नरक के भागी बनोगे।"

बड़े भाई के मुख से यह बात सुनकर उसके दोनो छोटे भाई हंसे और बोले—"भैया, तुम हमें धर्म का ज्ञान कराते हो। इस अवस्था में जो हमारा धर्म है, तुम्हारा भी तो वही है।"

छोटे भाइयों की बात सुनकर बड़ा भाई कुछ क्रुद्ध हो गया और बोला—"तुम लोग मेरी दक्षता नहीं जानते, इसलिए मैं किसी घृणित वस्तु को नहीं छू सकता। इस पर मंझला भाई बोला—"दक्षता की बात क्या करते हो, मैं भी कुछ कम नहीं। मै तुमसे अधिक दक्ष हूं।" तब बड़े भाई ने कहा—"यदि ऐसी बात है तो हममें से सबसे छोटा इस कछुए को लेकर चले।"

यह सुनकर सबसे छोटे की मूछें तन गई। बोला—"तुम दोनों ही मूर्ख हो इसलिए मुझसे ऐसी आशा रखते हो। जानते नहीं कि मैं तुम दोनों से अधिक चतुर हूं। मै शय्या दक्ष हूं।"

इस प्रकार वे तीनों भाई आपस में ही झगड़ने लगे और कछुए को छोड़कर अपने झगड़े के निबटारे हेतु उस प्रदेश के राजा के पास, विटंकपुर नामक उसके नगर की ओर चल पड़े।

राजा के महल में अंदर गए और राजा को सारा वृत्तांत सुनाया।

सुनकर राजा ने कहा—"आप तीनों यहीं ठहरिए। मैं आप तीनों की परीक्षा लूंगा।"

भोजन के समय राजा ने उस तीनों को बुलवाया और अपने रसोइए को कहकर उनके सामने नाना-प्रकार के व्यंजन परोसवाए।

दोनों छोटे भाई तो उस स्वादिष्ट भोजन के खाने लगे किंतु बड़ा भाई भोजन की उपेक्षा कर एक ओर मुंह बनाए बैठा रहा। उसने एक ग्रास भी मुंह में न डाला।

जब राजा ने स्वयं उससे पूछा—"आर्य, भोजन तो स्वादिष्ट और सुगंधित है। आप खाते क्यों नहीं ?" तो उसने उत्तर दिया—"राजन, इस भात में मुर्दे के धुएं की दुर्गंध है, इसीलिए स्वादिष्ट होने पर भी मेरी इच्छा इसे खाने को नहीं हो रही।"

उसके ऐसा कहने पर, राजाज्ञा से सबने उस भात को सूंघने के बाद कहा—"उत्तम कोटि का यह चावल बिल्कुल दोषरहित है। इसमें किसी प्रकार की गंध भी नहीं है।"

भोजनदक्ष बड़े भाई ने भी उसे नाक से सूंघा, पर खाया नहीं। इस पर राजा ने उन चावलों के स्रोत का पता लगवाया कि वह कहां पैदा किए गए थे, तो पता चला कि चावल एक ऐसे खेत के थे, जो श्मशान के बिल्कुल पास था। भोजनदक्ष का कहना बिल्कुल सच था, श्मशान में मुर्दे जलते ही हैं, उन्हीं के जलने की बदबू चावलों में रच-बस गई थी।

राजा भोजनदक्ष की योग्यता को मान गया। उसने अपने रसोइया को दूसरा भोजन बनाकर लाने का आदेश दिया। भोजन के उपरान्त राजा ने उन तीनों को अलग-अलग कमरों में भेज दिया। फिर उसने नगर की एक गणिका को बुलवा भेजा। उस सर्वांग सुन्दरी को अच्छी तरह सजा-संवारकर राजा ने उस दूसरे, नारीदक्ष ब्राह्मण के पास भेजा। पूर्णिमा के समान मुख वाली और काम को जगाने वाली वह स्त्री, राजा के अनुचरों के साथ उस नारीदक्ष के शयन गृह में गई।

ज्योंही वह गृह में प्रविष्ट हुई, उसकी कांति से कमरा दमक उठा। किंतु उस नारीदक्ष को मूर्छा-सी आने लगी। उसने अपनी नाक दबा ली और राजा के अनुचरों से कहा—"इसे यहां से ले जाओ, नहीं तो मैं मर जाऊंगा क्योंकि इसके भीतर से बकरी की दर्गंध आ रही है। उसकी यह बातें सुनकर राजा के अनुचर उस घबराई हुई गणिका को राजा के पास ले गए और उससे सारा वृत्तांत कह सुनाया। राजा ने

तत्काल ही नारीदक्ष को बुलवाकर कहा—"इस गणिका ने चंदन, कपूर आदि उत्तम सुगंधियां लगा रखी हैं, जिनकी सुगंध चारों ओर फैल रही है। यह सजी-संवरी है फिर भला इसके शरीर से बकरी की गंध कैसे आ सकती है ?"

राजा के ऐसा कहने पर भी जब नारीदक्ष ने यह बात नहीं मानी, तो राजा सोच में पड़ गया। युक्तिपूर्वक उस गणिका से पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि बचपन में उसकी माता तथा भाई के मर जाने पर उसे बकरी का दूध पिलाकर पाला गया था।

तब राजा नारीदक्ष की चतुराई पर बहुत विस्मित हुआ और उसकी प्रशंसा की। अनन्तर, उसने तीसरे ब्राह्मण को, जो शय्यादक्ष था, उसकी इच्छा के अनुसार शैय्या दी। उस पलंग पर सात गद्दे बिछे हुए थे।

बहुमूल्य कक्ष में वह शय्यादक्ष पलंग पर सोया, जिस पर धुली हुई और मुलायम चादर बिछी हुई थी। अभी रात आधी ही बीती थी कि वह नींद से जाग उठा और हाथ से बगल को दबाए हुए पीड़ा से कराहने लगा। राजा के जो अनुचर वहां थे, उन्होंने देखा कि उसके शरीर में केश का एक गहरा और कठोर दाग बन गया है। अनुचर ने जब राजा से जाकर यह बात कही तो उसने कहा— "तुम लोग जाकर देखो कि गद्दों के नीचे कुछ है या नहीं।" उन लोगों ने एक-एक गद्दे के नीचे देखा, तो सबसे अंतिम गद्दे के नीचे पलंग पर एक केश पड़ा मिला। उसे लाकर जब राजा को दिखलाया गया तो साथ आए शैय्यादक्ष के अंग पर वैसा ही निशान देखकर राजा को विस्मय हुआ। राजा यह सोचकर बहुत देर तक आश्चर्य करता रहा कि सात गद्दों के नीचे उसे केश का दाग शय्यादक्ष के शरीर पर कैसे पड़ गया। इसी सोच-विचार में किसी तरह उसने वह रात बिताई।

दूसरे दिन राजा ने उन तीनों को उनकी अद्‌भुत चतुरता और सुकुमारता के लिए तीन लाख स्वर्णमुद्राएं दीं। तब वे तीनों सुखपूर्वक रहने लगे और कछुए को तथा पिता के यज्ञ में विघ्न पड़ने से जो पाप हुआ था, उसको भूल गएए।

यह अद्‌भुत कथा सुनाकर बेताल ने विक्रमादित्य से पूछा—"राजन, पहले कहे गए मेरे शाप को याद करते हुए अब तुम यह बताओ कि उन तीनों—भोजनदक्ष, नारीदक्ष और शय्यादक्ष—में से कौन अधिक चतुर था ?"

यह सुनते ही राजा ने बेताल को उत्तर दिया—"बेताल ! मैं उन तीनों में शैय्या-दक्ष को ही श्रेष्ठ समझता हूं क्योंकि उसकी बात में कुछ छिपा-ढका नहीं था। उसके अंग में केश का दाग स्पष्ट रूप से देखा गया था। दूसरों ने जो कुछ कहा, हो सकता है औरों के मुंह से शायद वे बातें उन्होंने पहले से जान ली हों।"

राजा के ऐसा कहने पर पहले की ही तरह वह बेताल उसके कंधे से उतरकर चला गया। राजा भी उसी तरह घबराए बिना उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

❑❑❑

नौवां बेताल
राजकुमारी अनंगरति की कथा

पहले की भांति उस शिंशपा-वृक्ष के पास पहुंचकर राजा विक्रमादित्य ने बेताल को फिर से नीचे उतारा और उसे अपने कंधे पर डालकर गंतव्य की ओर चल पड़ा।

रास्ते में फिर बेताल ने मौन भंग किया—"राजन ! कहां राज्य का सुख-भोग और कहां रात के इस प्रहर में इस महाश्मशान में घूमना। क्या तुम भूत-प्रेतों से भरे इस श्मशान को नहीं देखते, जो रात में भयानक बना हुआ है और जहां चिता के धुएं की तरह अंधकार बढ़ता जा रहा है। तुमने उस योगी के कहने पर न जाने क्यों इस असाध्य कार्य को करना स्वीकार कर लिया है। मुझे यह सोचकर तुम पर दया आ रही है। तुम्हारा श्रम भुलाने के लिए मै तुम्हें फिर से एक कथा सुनाता हूं, ताकि तुम्हारा मार्ग सुगम हो।"

तब विक्रमादित्य के सहमति देने पर बेताल ने यह कथा सुनाई।

अवन्ती में एक नगरी है, जिसे सृष्टि के आरंभ में देवताओं ने बनाया था। सर्पो (सांपों) और भभूत (भस्म) से विभूषित शिव के विराट शरीर के समान वह नगरी भी बहुत विशाल थी और ऐश्वर्य के प्रत्येक साधन से सुशोभित थी।

जो नगरी सतयुग में पद्मावती, त्रेता में भोगवती तथा द्वापर में हिरण्यवती कही जाती थी, वही कलियुग में उज्जयिनी के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस उज्जयिनी में वीरदेव नाम के एक राजा थे, जो भूपतियों में श्रेष्ठ थे। उनकी पटरानी का नाम पद्मरति था। पुत्र की कामना से उस राजा ने अपनी पत्नी सहित मंदाकिनी के तट पर जाकर, तपस्या के द्वारा भगवान महादेव की आराधना की।

बहुत दिनों तक तपस्या करने के बाद जब उन्होंने स्नान और अर्चन की विधियां पूर्ण कर लीं, तो भगवान शंकर प्रसन्न हुए और आकाश से उनकी वाणी सुनाई पड़ी—"राजन, तुम्हारे कुल में पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होगा। अतुलनीय रूपवती एक कन्या भी तुम्हारे घर में जन्म लेगी, जो अपनी सुंदरता से अप्सराओं को भी मात करेगी।"

यह आकाशवाणी सुनकर राजा वीरदेव की कामना पूरी हो गई। वह अपनी पत्नी सहित अपनी नगरी में चला आया। वहां, पहले उसे शूरदेव नाम का एक पुत्र पैदा हुआ और फिर उसकी पद्मरति ने एक कन्या को जन्म दिया। अपने सौंदर्य से कामदेव के मन में भी आकर्षण उत्पन्न करने वाली उस कन्या का नाम उसके पिता ने अनंगरति रखा।

जब वह कन्या बड़ी हुई, तब उसके योग्य पति प्राप्त करने के लिए उसके पिता ने भूमंडल के सभी राजाओं के चित्र मंगवाए। राजा को जब उनमें से कोई भी अपनी कन्या

के योग्य न जान पड़ा, तब उसने स्नेह से अपनी पुत्री से कहा—"बेटी, मुझे तुम्हारे योग्य कोई वर नहीं मिलता, अतः तुम स्वयंवर द्वारा अपना वर स्वयं ही चुनो।"

पिता की यह बात सुनकर उस राजकुमारी ने कहा—"पिताजी, लज्जा के कारण मैं स्वयंवर नहीं करना चाहती, किंतु जो भी सुरूप युवक कोई अनूठी कला जानता हो, आप उसी से मेरे विवाह कर सकते हैं। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं चाहती।"

अपनी कन्या अनंगरति की बात सुनकर राजा उसके लिए वैसे ही वर की खोज करने लगा।

इसी बीच, लोगों के मुंह से यह वृत्तांत सुनकर दक्षिण-पथ से चार पुरुष वहां आ पहुंचे, जो वीर थे, कलाओं में निपुण थे और भव्य आकृति वाले थे।

राजा ने उनका स्वागत-सत्कार किया। तब उस राजपुत्री की इच्छा रखने वाले वे चारों पुरुष, एक के बाद एक राजा ने अपने-अपने कौशल का वर्णन करने लगे।

उनमें से एक ने कहा—"मैं शूद्र हूं, मेरा नाम पंचपट्टिक है। मैं प्रतिदिन पांच जोड़े उत्तम वस्त्र तैयार करता हूं। उनमें से एक जोड़ा वस्त्र मैं देवता को चढ़ाता हूं और एक जोड़ा ब्राह्मण को देता हूं। एक जोड़ा मैं पहनने के लिए रखता हूं। इस राजकन्या का विवाह यदि मुझसे होगा तो एक जोड़ा मैं इसे दूंगा और एक जोड़ा वस्त्र बेचकर मैं अपने खाने-पीने का निर्वाह करूंगा। अतः इस अनंगरति का विवाह आप मुझसे करें।"

पहले पुरुष के बाद दूसरा बोला—"राजन ! मैं भाषाज्ञ नामक वैश्य हूं। मैं सब पशु-पक्षियों की बोलियां जानता और समझता हूं। अतः इस राजपुत्री को आप मुझे दे दें।"

अनंतर, जब दूसरा ऐसा कह चुका तो तीसरा बोला—"राजन, मैं एक पराक्रमी क्षत्रिय हूं। मेरा नाम खड्गधर है। खड्ग विद्या में मेरी बराबरी करने वाला इस धरती पर कोई नहीं है। अतः राजन, आप अपनी कन्या का विवाह मुझसे ही करें।"

यह सुनकर चौथा बोला—"मैं एक ब्राह्मण हूं, राजन। मेरा नाम जीवदत्त है। मेरे पास ऐसी विद्या है, जिससे मैं मरे हुए प्राणियों में जान डाल देता हूं। अतः ऐसे कार्य में दक्ष मुझको आप अपनी कन्या के लिए पति रूप में स्वीकार करें।"

दिव्य वेश वाले उन चारों पुरुषों के ऐसा कहने पर राजा सोच में पड़ गया और विचार करने लगा कि वह किसके साथ अपनी कन्या का विवाह करे।

इतनी कथा सुनाकर बेतान ने विक्रमादित्य से पूछा—"राजन, अब तुम्हीं बताओ कि राजकुमारी अनंगरति का विवाह उन चारों में से किसके साथ होना चाहिए ? जानकर भी यदि तुम इसका सही उत्तर नहीं दोगे तो मेरे श्राप द्वारा तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े हो जाएंगे।"

यह सुनकर बेताल को राजा विक्रमादित्य ने बताया—"योगेश्वर, आप समय बिताने के लिए ही, मुझे मौन भंग करने को विवश करते हैं, अन्यथा आपका यह प्रश्न

कौन बड़ा जटिल है ? आप स्वयं ही सोचिए, उस शूद्र जुलाहे को क्षत्रिय कन्या कैसे दी जा सकती है ? वैश्य को भी क्षत्रिय कन्या नहीं दी जा सकती और फिर उसे, जिसे पशि-पक्षियों की भाषा का ज्ञान है, उसका भी क्या उपयोग है ? तीसरा, जो ब्राह्मण, अपना स्वयं का काम छोड़कर बाजीगर बन गया है, वह भी उसके पति होने के योग्य नहीं है, क्योंकि वह ब्राह्मण अपना काम छोड़कर पतित बन गया है। अतः राजपुत्री के योग्य तो वह क्षत्रिय पुरुष है। उसी से राजपुत्री का विवाह करना उचित है जो कुल में समान है। अपनी विद्या जानने वाला तथा पराक्रमी है।"

राजा की बात सुनकर बेताल ने कहा—"राजन, तुमने बिल्कुल सही उत्तर दिया। राजकुमारी का विवाह उसी से होना चाहिए क्योंकि समान कुल और पराक्रमी व्यक्ति के साथ ही कन्या का विवाह अनुकूल होता है। पर, मेरे प्रश्न का उत्तर देते समय तुम हम दोनों के बीच हुई शर्त को भूल गए, अतः अब मैं चलता हूं।"

यह कहकर बेताल राजा के कंधे से उतर गया और पुनः उसी शिंशपा-वृक्ष की ओर उड़ गया, जहां से विक्रमादित्य उसे लाए थे।

राजा विक्रमादित्य ने भी अपना हौसला न खोया। बेताल के जाते ही वह भी पुनः उसे लाने के लिए उस महाश्मशान में उसी वृक्ष की ओर चल पड़ा।

दसवां बेताल
मदनसेना की कथा

अनंतर, विक्रमादित्य ने शिंशपा-वृक्ष के पास जाकर बेताल को वृक्ष से उतारा, अपने कंधे पर डाला और वहां से चल पड़ा।

जाते हुए राजा से, उसकी पीठ के ऊपर बैठे हुए बेताल ने कहा—"राजन ! तुम थक गए हो, इसलिए थकावट दूर करने के लिए मुझसे यह कथा सुनो।"

किसी समय वीरबाहु नाम का एक श्रेष्ठ राजा था, जो छोटे-बड़े अनेक राज्यों पर राज करता था। उसकी राजधानी अनगपुर नामक नगरी थी जो वैभव व भव्यता में कुबेर की नगरी को भी मात करती थी।

उसी नगरी में अर्थदत्त नाम का एक महाधनी व्यापारी रहता था। व्यापारी की दो संतानें थीं। बड़ा लड़का, जिसका नाम धनदत्त था और छोटी एक लड़की, जिसका नाम मदनसेना था। मदनसेना कन्याओं मे रत्न के समान थी।

एक दिन मदनसेना बगीचे में अपनी सखियों के साथ खेल रही थी। तभी धनदत्त का एक मित्र, जिसका नाम धर्मदत्त था, धनदत्त से मिलने पहुंचा। वहां बगीचे में अपनी सहेलियों के मध्य हंसी-मजाक करती हुई मदनसेना को जब उसने देखा तो बस देखता ही रह गया। धर्मदत्त उसे देखते ही उस पर आसक्त हो गया था। उसका हृदय कामदेव के बाण-समूहों से छिदकर रह गया था।

मदनसेना के शरीर से लावण्य का रस झर रहा था। उसे देखकर हठात् ही धर्मदत्त के मुख से निकल गया—"आह ! अलौकिक रूप की शोभा से जगमगाने वाली इस कन्या को शायद स्वयं कामदेव ने मेरा हृदय बेधने के लिए इस तीखे तीर के रूप में बनाया है।"

वह बहुत देर तक एक पेड़ की ओट से मदनसेना के रूप का रसपान करता रहा और जब मदनसेना अपने घर के अंदर चली गई तो उसका मन उसे पाने के लिए व्यथित होने लगा। वह दुखी मन से घर लौटा और बिस्तर पर पड़ गया। उसके कई मित्रों ने उसकी इस विकलता का कारण पूछा किंतु धर्मदत्त कुछ भी न कह सका।

उस रात स्वप्न में भी वह अपनी प्रिया को ही देखता रहा और उसकी मनुहार करता रहा। किसी ने सच ही कहा है—'उत्सुक हृदय वाला मनुष्य क्या-क्या नहीं करता ?'

सवेरे उठकर वह फिर उसी बगीचे में गया। वहां उसने मदनसेना को अकेली बैठा देखा। वह अपनी सखियों की प्रतीक्षा कर रही थी। उसका आलिंगन करने के इच्छा से वह उसके पास पहुंचा और उसके निकट झुककर प्रेम के कोमल वचनों से उसे रिझाने लगा।

तब मदनसेना बोली—"मैं कुमारी हूं, दूसरे की वाग्दत्ता पत्नी भी हूं। अब मैं आपकी नहीं हो सकती क्योंकि मेरे पिता समुद्रदत्त नामक व्यापारी से मेरा रिश्ता तय कर चुके हैं। थोड़े ही दिनों में मेरा विवाह होने वाला है इसलिए आप चुपचाप चले जाएं, क्योंकि कोई देख लेगा तो मुझे दोष लगेगा।"

इस प्रकार, बहुत तरह से उसके समझाने पर धर्मदत्त ने कहा—"मेरा चाहे जो भी हो, मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकता।"

उसकी यह बात सुनकर मदनसेना इस भय से विकल हो गई कि कहीं यह बल-प्रयोग न करे। उसने कहा—"आपने अपने प्रेम से मुझे जीत लिया है किंतु पहले मेरा विवाह हो जाने दीजिए। पहले पिताजी को कन्यादान का चिर-आकांक्षित फल प्राप्त हो जाए, फिर मैं आपके पास चली आऊंगी।"

यह सुनकर धर्मदत्त ने कहा—"मैं यह नहीं चाहता कि मेरी प्रिया, मुझसे पहले किसी और की हो चुकी हो, क्योंकि दूसरा जिसका रस ले चुका हो, क्या उस कमल पर भौंरा प्रीति रख सकता है ?"

उसके यह कहने पर मदनसेना बोली—"तब विवाह होते ही, पहले मैं आपके पास आऊंगी और तब अपने पति के पास जाऊंगी।"

मदनसेना के ऐसा कहने पर भी उस वणिक-पुत्र ने बिना पूरे विश्वास के उसे नहीं छोड़ा। उसने शपथ के साथ उसे सत्यवचन में बांध लिया, तब उससे छुटकारा पाकर, घबराई हुई मदनसेना अपने घर गई।

विवाह का समय आने पर जब उसके विवाह का मंगल-कार्य समाप्त हुआ, तब वह पति के घर आई। हंसी-खुशी में दिन बिताकर, रात के समय, वह पति के साथ शयनकक्ष में गई।

वहां पलंग पर बैठकर भी उसने अपने पति समुद्रदत्त की आलिंगन आदि चेष्टाओं को स्वीकार नहीं किया। समुद्रदत्त ने जब अपनी मीठी-मीठी बातों से उसे रिझाने की कोशिश की तो मदनसेना की आंखों में आंसू भर आए। तब समुद्रदत्त ने यही सोचकर कि "शायद इसे मैं पसंद नहीं हूं, मदनसेना से कहा—'सुन्दरी, यदि तुम्हें मैं पसंद नहीं हूं तो मुझे भी तुमसे कोई काम नहीं है, तुम्हें जो भी प्रिय हो, तुम उसी के पास चली जाओ'।"

यह सुनकर मदनसेना ने सिर झुका लिया। फिर धीरे-धीरे वह बोली—"आर्यपुत्र ! आप मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं किंतु मुझे आपसे कुछ कहना है। आप उसे सुनें और मुझे अभयदान दें ताकि मैं सच्ची बात आपसे कह सकूं।"

बड़ी कठिनाई से उसके ऐसा कहने पर समुद्रदत्त ने उसका आग्रह स्वीकार कर दिया। तब वह लज्जा व विषाद से भरी भयभीत-सी बोली—"एक बार जब मैं अपने

बगीचे में अकेली खड़ी थी, काम-पीड़ा से आतुर मेरे भाई के एक मित्र धर्मदत्त ने मुझे रोक लिया। जब वह जिद पर उतर आया, तब मैंने, पिता को कन्यादान का फल मिल सके और निंदा भी न हो, इस विचार से उसे वचन दिया कि विवाह हो जाने पर मैं पहले उसके पास आऊंगी, तब अपने पति के पास जाऊंगी। अत: स्वामी, आप मुझे अपने सत्यवचन का पालन करने की अनुमति दें। मैं उसके पास जाकर क्षण-भर मे ही आपके पास लौट आऊंगी। बचपन से मैंने जिस सत्य का पालन किया है, उसे मैं छोड़ नहीं सकती।''

उसकी बातें सुनकर समुद्रदत्त आहत-सा हो गया। लेकिन वह वचन से बंध चुका था इसलिए सोचता रहा—'अन्य पुरुष में आसक्त इस स्त्री को धिक्कार है। यह जाएगी तो अवश्य ही, फिर मैं इसे सत्य से क्यों डिगाऊं ? इससे मेरा विवाह हुआ है, इसका आग्रह मुझे स्वीकार करना ही चाहिए।''

यह सब सोचकर समुद्रदत्त ने उसे जाने की अनुमति दे दी। वह उठी और अपने पति के घर से बाहर निकल गई। अंधियारी रात में मदनसेना अकेली ही जा रही थी, तभी मार्ग में किसी चोर ने दौड़कर उसका रास्ता रोक लिया।

चोर ने जब उससे पूछा—''तुम कौन हो और कहां जा रही हो ?''

तब डरती हुई मदनसेना ने कहा—''तुम्हें इससे क्या प्रायोजन ? मेरा रास्ता छोड़ दो। यहां मुझे कुछ काम है।''

चोर ने कहा—''मैं तो चोर हूं, तुम मुझसे छुटकारा कैसे पा सकती हो ?''

यह सुनकर मदनसेना बोली—''तब तुम मेरे गहने ले लो।''

चोर ने कहा—''अरी भोली, इन पत्थरों को लेकर मैं क्या करूंगा ? तुम्हारा मुख चंद्रकान्त मणि के समान है, काले केश नागमणि के मानिंद हैं, कमर हीरे का समान है, शरीर सोने जैसा है, अवयव पद्मराग मणि के समान हैं। तुम स्वयं एक जीती-जागती अप्सरा हो। मैं तुम्हें किसी तरह नहीं छोडूंगा।''

चोर के ऐसा कहने पर उस वाणिक पुत्री ने विवश होकर अपना वृत्तांत सुनाने के बाद उस चोर से प्रार्थना करते हुए कहा—''क्षण भर के लिए तुम मुझे क्षमा करो। तुम यहीं ठहरो, तब तक मैं अपना वचन पूरा करके शीघ्र ही तुम्हारे पास आ जाऊंगी। मैं अपने इस वचन का उल्लंघन नहीं करूंगी।''

यह सुनकर उस चोर ने उसे सच्चाई पर अटल रहने वाली समझा और उसे छोड़ दिया, तत्पश्चात् वह चोर वहीं रुककर उसके लौटने की प्रतीक्षा करने लगा।

मदनसेना धर्मदत्त के पास पहुंची। वह मदनसेना को जी-जान से चाहता था, उसे इस प्रकार रात्रि के समय अपने पास आई हुई देखकर उसने सारा वृत्तांत पूछा, सोचने के बाद वह बोला—''मदनसेना, तुम्हारी सच्चाई से मैं संतुष्ट हूं लेकिन अब तुम पराई स्त्री हो। अतः इससे पहले कि तुम्हें कोई देख ले, तुम जहां से आई हो, वहीं वापस चली जाओ।''

इस प्रकार धर्मदत्त ने जब उसे छोड़ दिया, तब वह उस चोर के पास आई जो मार्ग में उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

चोर के यह पूछने पर कि—"तुम जहां गई थीं, वहां का हालचाल सुनाओ।"

मदनसेना ने वह सारी बातें सुनाई जो धर्मदत्त ने कही थीं।

तब उस चोर ने उससे कहा—"यदि ऐसी बात है, तो मैं भी तुम्हें छोड़ देता हूं। मैं तुम्हारी सच्चाई से संतुष्ट हूं। तुम अपने गहनों के साथ अपने घर जाओ।"

इस तरह चोर ने भी उसे छोड़ दिया और उसकी सुरक्षा के लिए उसके साथ-साथ चला। मदनसेना अपने शील की रक्षा कर सकी थी इसलिए वह प्रसन्नतापूर्वक अपने घर, पति के पास लौट आई।

छिपकर उस सती ने अपने घर में प्रवेश किया और प्रसन्नतापूर्वक अपने पति के निकट गई। उसे देखकर जब उसके पति ने पूछा, तो उसने सारा वृत्तांत उसे बतला दिया।

समुद्रदत्त ने जब देखा कि उसके चेहरे की कांति कुम्हलाई नहीं है, न ही उसके शरीर पर किसी पर-पुरुष से मिलने का कोई चिन्ह है और उसका मन भी शुद्ध है तो उसने मदनसेना को अखंडित चरित्र वाली सती स्त्री मानकर उसका सम्मान किया। अनन्तर, वह उसके साथ सुखपूर्वक सफल दाम्पत्य जीवन निर्वाह करने लगा।

उस श्मशान में यह कथा सुनाकर बेताल ने राजा विक्रमादित्य से फिर यों कहा—"राजन, अब यह बतलाओ कि उस चोर और उन दोनों वणिक-पुत्रों में से त्यागी कौन था ? यदि जानते हुए भी तुम इस प्रश्न का उत्तर न दोगे तो तुम्हारा सिर सौ टुकड़ों में फट जाएगा।"

मौन त्यागकर राजा ने बेताल से कहा—"हे योगेश्वर, त्यागी उनमें से वह चोर ही था। दोनों वणिक-पुत्र नहीं। समुद्रदत्त ने उसके विवाहित होने पर ही उसे त्याज्य समझकर उसका त्याग किया था। वह कुलीन वणिक अपनी स्त्री को दूसरे के प्रति आसक्त जानकर भी कैसे अपनाता ? दूसरे वणिक का हृदयावेग समय पाकर मंद हो गया था, फिर उसे इस बात का डर भी हुआ होगा कि सारी बातें जानकर उसका पति, सवेरा होने पर राजा से कह देगा तो राजा उसे दंड दिए बिना नहीं मानेगा। अतः उसने भी मदनसेना को छोड़ दिया। लेकिन चोर को तो कोई डर नहीं था। वह तो गुप्तरूप से पहले ही पाप-कर्म में लगा हुआ था। उसने जो आभूषण सहित पाई हुई स्त्री को छोड़ दिया, इससे वही सच्चा त्यागी था।"

बेताल को अपने प्रश्न का सही उत्तर मिल गया। अतः वह पहले की भांति ही राजा के कंधे से फिसलकर वापस शिंशपा-वृक्ष की ओर उड़ गया। राजा भी अपना असीम धैर्य खोए बिना, उसे ले आने के लिए पुनः उस ओर चल पड़ा।

❑❑❑

ग्यारहवां बेताल

राजा धर्मध्वज की कथा

राजा विक्रमादित्य ने शिशपा-वृक्ष से पुनः बेताल को नीचे उतारा और उसे कंधे पर डालकर चल पड़ा। चलते हुए राजा के कंधे पर बैठे बेताल ने कहा—"राजन, उस योगी के कहने में आकर सचमुच तु" बहुत परिश्रम कर रहे हो। तुम्हारे मार्ग का श्रम कुछ दूर हो इसलिए मैं तुम्हे यह कथा सुनाता हूं।"

पुराने समय उज्जयिनी में धर्मध्वज नामक राजा राज करता था। उसकी तीन अत्यंत सुन्दर रानियां थीं, जो उसे समान रूप से प्रिय थीं। उन तीनों के नाम थे—इंद्रलेखा, तारावली और मृगांकवती। राजा उनके साथ रहकर सुखपूर्वक अपने राज्य का संचालन करता था।

एक बार जब बसंतकाल का उत्सव आया, तब वह राजा अपनी प्रियाओं के साथ क्रीड़ा करने के लिए उद्यान में गया। वहां उसने पुष्पों से झुकी हुई लताएं देखीं, जो कामदेव के धनुष जैसी लग रही थीं। उनमें गुन-गुन करते भौंरों का समूह प्रत्यंचा के समान लगता था, जिसे मानो बसंत ने स्वयं ही सजाया हो।

ऐसे खूबसूरत वातावरण में राजा ने अपनी स्त्रियों के पीने से बची उस मदिरा को पीकर प्रसन्नता पाई, जो उनके निःश्वास से सुगंधित थी और उनके होंठों की तरह लाल थी। राजा ने खेल-ही-खेल में रानी इंद्रलेखा की चोटी पकड़कर खींची, जिससे उसके कानों पर से कमल का फूल खिसककर उसकी गोद में आ गिरा। उस फूल के आघात से उस कुलवती रानी की जांघ पर घाव हो गया और वह हाय-हाय करती हुई मूर्छित हो गई।

यह देखकर राजा और उसके अनुचर घबरा गए। राजा ने जल मंगवाकर रानी के मुंह पर पानी के छींटे मारे तो रानी होश में आई। अनन्तर, राजा उसे अपने महल में लाया और राजवैद्य से उसका उपचार करने को कहा। दो वैद्य तत्काल ही रानी के उपचार में जुट गए।

उस रात, इंद्रलेखा की हालत में सुधार देखकर राजा अपनी दूसरी पत्नी तारावली के साथ चंद्र-प्रासाद नामक महल में गया। वहां तारावली राजा की गोद में सो गई। उसके वस्त्र खिसक गए थे, जबकि उसके शरीर पर खिड़की की जालियों से होकर चंद्रमा की किरणें पड़ीं। किरणों का स्पर्श होते ही रानी तारावली जाग उठी और 'हाय जल गई' कहती हुई अचानक पलंग से उठकर अपने अंग मलने लगी। घबराकर राजा भी उठ बैठा। राजा ने तारावली के उस अंग पर सचमुच ही फफोले पड़ गए थे।

तारावली ने बताया—"स्वामी नंगे शरीर पर पड़ी हुई चंद्रमा की किरणों ने मेरी

यह हालत की है।" तब राजा ने परिचारिकाएं बुलाई और उन्होंने रानी के लिए गीले कमल-पत्रों की सेज बिछाई एवं उसके शरीर पर चंदन का लेप लगाया। इसी बीच तीसरी रानी मृगांकवती भी जाग उठी। तारावली के कक्ष से आती आवाजें सुनकर उसकी नींद उचट गई थी। राजा के पास जाने की इच्छा से वह अपने कक्ष से निकलकर तारावली के कक्ष की ओर चल पड़ी। अभी वह कुछ ही कदम चली थी कि उसने दूर से किसी के घर धान कूटे जाने की आवाज सुनी। मूसल की आवाज सुनकर वह विकल हो उठी और 'हाय मरी' कहते हुए मार्ग में ही बैठ गई। परिचारिकाओं ने जब रानी की जांच की तो उन्होंने उसकी हथेलियो पर काले, गहरे धब्बे देखे। परिचारिकाएं दौड़ती हुई राजा के पास पहुंचीं और सारा वृत्तांत राजा को बताया। सुनकर राजा भी घबरा गया और तुरंत अपनी रानी की हालत देखने उनके साथ चल पड़ा।

रानी के पास पहुंचकर राजा धर्मध्वज ने उससे पूछा—"प्रिय ! यह क्या हुआ ?" तो आंखों में आंसू भरकर रानी मृगांकवती ने उसे अपने दोनों हाथ दिखाते हुए कहा—"स्वामी, मूसल की आवाज सुनने से मेरे हाथों में यह निशान पड़ गए हैं।" तब आश्चर्य और विषाद में पड़े राजा ने उसके हाथों पर दाह का शमन करने वाले चंदन आदि का लेप लगवाया।

राजा सोचने लगा—'मेरी एक रानी को कमल के गिरने से घाव हो गया, चंद्रमा की किरणों से दूसरी के अंग जल गए और इस तीसरी के हाथों में मूसल का शब्द सुनने से ही ऐसे निशान पड़ गए। हाय, देवयोग से मेरी इन तीनों ही प्रियाओं का अभिजात्य गुण एक साथ ही दोष का कारण बन गया।' राजा ने वह रात बड़ी कठिनाई से काटी। सवेरा होते ही उसने राज्य भर के सभी कुशल वैद्यों और शल्य-क्रिया करने वालों को बुलवाया और अपनी रानियों का उपचार करने को कहा। उन वैद्यो और शल्यक्रिया जानने वालों के संयुक्त प्रयास से जब रानियां शीघ्र ही स्वस्थ हो गई तब राजा निश्चिंत हुआ।

यह कथा राजा को सुनाकर उसके कंधे पर बैठे हुए बेताल ने पूछा—"राजन, अब तुम यह वतलाओ कि इन तीनों रानियों में सबसे अधिक सुकुमारी कौन-सी थी ? जानते हुए भी यदि तुम मेरे इस प्रश्न का उत्तर न दोगे तो तुम पर पहले कहा हुआ शाप पड़ेगा।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"बेताल ! उन सब में सबसे सुकुमारी थी रानी मृगाकवती। जिसने मूसल को छुआ भी नहीं, केवल उसकी आवाज से ही उसके हाथो मे दाग पड़ गए थे। बाकी दोनों को तो कमल एवं चंद्रकिरणों के स्पर्श से घाव तथा फफोले हुए थे। अतः वे दोनों उसकी बराबरी नहीं कर सकतीं।"

राजा ने जब बेताल को ऐसा सटीक उत्तर दिया तो बेताल संतुष्ट होकर पुनः उसके कधे से उतरकर उसी शिंशपा-वृक्ष की ओर चला गया। राजा विक्रमादित्य एक बार फिर उसे लाने के लिए उसी दिशा में चल पड़ा।

बारहवां बेताल
यशकेतु की कथा

इस बार भी वही क्रम चला। राजा विक्रमादित्य ने शिशपा-वृक्ष से बेताल को उतारा और उसे अपने कंधे पर डालकर ले चला। रास्ते में फिर से बेताल ने मौन भंग किया—"राजन, तुम अपनी अनुद्विग्नता से मेरे प्रिय बन गए हो इसलिए सुनो, मै तुम्हारी प्रसन्नता के लिए तुम्हें यह रोचक कथा सुनाता हूं।"

पुराने समय में अगदेश में यशकेतु नाम का एक राजा था। वह राजा महापराक्रमी था। अपने बाहुबल से वह बहुत-से राजाओं पर विजय प्राप्त कर चुका था।

उस राजा का एक मंत्री था, जो देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान बुद्धिमान था। उसका नाम था दीर्घदर्शी। उस मंत्री के हाथों अपना राज्य निष्कंटक सौंपकर वह राजा केवल सुख-भोगों में ही आसक्त रहने लगा।

वह अधिकांशतः अन्तःपुर में ही रहता, कभी राजसभा में न आता। स्त्रियों के बीच रंगीले गीत सुनता, हितैषियों की बात न सुनता। निश्चिंत होकर वह रनिवास में ही रमा रहता था।

यद्यपि महामंत्री दीर्वदर्शी उसके राज्य का चिंता-भार वहन करता हुआ दिन-रात एक कर रहा था। फिर भी लोग इस तरह का अपवाद फैलाने लगे कि यशकेतु तो अब नाममात्र का राजा रह गया है। मंत्री उसे व्यसनों में डालकर स्वयं ही राज्यश्री का भोग कर रहा है।

लोगों के ऐसे विचार जानकर एक दिन मंत्री ने अपनी पत्नी मेघाविनी से कहा—"प्रिये, यद्यपि राजा सुख-भोग में लिप्त है और मैं उसका कार्यभार वहन कर रहा हूं, तथापि लोग ऐसा अपवाद फैला रहे हैं कि मैं उसका राज्य हड़प रहा हूं। जनापवाद झूठा भी हो, तो भी वह बड़ा हानिकारक होता है। जनापवाद के कारण ही भगवान राम द्वारा सीता को त्यागना पड़ा था। अतः तुम मुझे सलाह दो कि ऐसी अवस्था में मुझे क्या करना चाहिए ?"

अपने स्वामी की परेशानी जानकर उस धीर स्वभाव और अपने नाम के अनुकूल आचरण करने वाली मेघाविनी ने कहा—"महामति ! युक्तिपूर्वक राजा से पूछकर आपको तीर्थयात्रा के बहाने कुछ समय के लिए विदेश चले जाना चाहिए। इस प्रकार निःस्पृह होने के कारण आपके बारे में जो लोकापवाद फैल रहा है, वह मिट जाएगा और आपके न रहने पर राजा भी स्वय अपना राज-काज देखने लगेंगे। उसके बाद धीरे-धीरे उनके व्यसन भी दूर हो जाएंगे। फिर जब आप लौटकर आएंगे और मंत्री का पद संभालेगें, तब आपको कोई दोष न देगा।"

पत्नी के ऐसा कहने पर मंत्री बोला—"तुमने ठीक कहा, प्रिये। मैं बिल्कुल ऐसा ही करूंगा।"

तब वह राजा के पास गया और बातों-ही-बातों में उसने राजा से कहा—"राजन, आप मुझे कुछ दिनों के लिए छुट्टी दे दें, जिससे मैं तीर्थयात्रा पर जा सकूं क्योकि धर्म में मेरी बहुत आस्था है।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"ऐसा मत करो मंत्रिवर। तीर्थयात्रा के बिना भी, घर में रहते हुए दान आदि करके तुम पुण्यफल प्राप्त कर सकते हो।"

मंत्री बोला—"दान आदि के द्वारा तो अर्थ शुद्धि ही पाई जा सकती है, राजन। किंतु तीर्थों से अनश्वर शुद्धि प्राप्त होती है. अतः बुद्धिमान लोगों को चाहिए के वे यौवन के रहते हुए ही तीर्थयात्रा कर लें। शरीर का कोई भरोस. नहीं है। समय बीत जाने पर फिर तीर्थयात्रा कैसे हो सकती है ?"

मंत्री जब डस प्रकार राजा को समझाने का प्रयास कर रहा था, तभी प्रतिहारी वहां पहुंचा और राजा से बोला—"स्वामी, दोपहर का समय हो चुका है, अतः आप उठकर स्नान कर लें क्योंकि स्नान का समय बीता जा रहा है।"

यह सुनते ही राजा स्नान के लिए उठकर खड़ा हो गया। यात्रा के लिए तैयार मंत्री भी उसे प्रणाम करके वहां से चला आया।

मंत्री ने घर आकर जैसे-तैसे अपनी पत्नी को मनाया क्योंकि वह स्वयं भी उसके साथ चलने का आग्रह कर रही थी। फिर वह अकेला ही यात्रा के लिए चल पड़ा। अनेक देशों में घूमता हुआ और तीर्थो की यात्रा करता हुआ वह मंत्री पौड्र देश में जा पहुंचा।

उस देश के एक नगर में समुद्र किनारे एक शिव मंदिर था। दीर्घदर्शी उस मंदिर में पहुंचा और वहां मंदिर के आंगन में बैठकर श्रम की थकान दूर करने लगा। वहां देवताओं के पूजन के लिए आए हुए निधिदत्त नामक एक वणिक ने दीर्घदर्शी को देखा, जो दूर से आने के कारण धूल से भरा हुआ था और कड़ी धूप के कारण कुम्हला गया था।

मंत्री को ऐसी अवस्था में यज्ञोपवीत पहने एवं उत्तम लक्षणों वाला देखकर वणिक ने उसे कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण समझा और सत्कारपूर्वक उसे अपने घर ले आया। घर ले जाकर उस वणिक ने मंत्री को स्नान कराया। उत्तम भोजन आदि से सत्कार करने के बाद जब वह विश्राम कर चुका तो उससे पूछा—"श्रीमंत, आप कौन हैं ? कहां के रहने वाले हैं और कहां जा रहे हैं ?"

तब दीर्घदर्शी ने उससे गंभीरतापूर्वक कहा—"मैं एक ब्राह्मण हूं और तीर्थ यात्रा करता हुआ यहां आया हूं।" तब व्यापारी निधिदत्त ने दीर्घदर्शी से कहा—"हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं व्यापार करने के लिए सुवर्णद्वीप जाने वाला हूं। इसलिए तुम मेरे घर में तब तक ठहरो, जब तक कि मैं लौटकर नहीं आ जाता। तुम तीर्थ यात्रा से थके हुए हो, यहां रहकर विश्राम भी कर लोगे।"

यह सुनकर दीर्घदर्शी ने कहा—"फिर मैं यहां ही क्यों रहूं, श्रीमंत। मैं तो सुखपूर्वक आपके साथ ही चलूंगा।" इस पर उस सज्जन वणिक ने कहा—"ठीक है, यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो यही करो।"

बहुत समय बाद दीर्घदर्शी को उसके यहां सोने को नर्म शैय्या मिली थी, इसलिए वह बिस्तर पर पड़ते ही चैन की नींद सो गया।

अगले दिन वह उस व्यापारी के साथ समुद्रतट पर गया और व्यापारी के सामग्री से लदे जहाज में बैठ गया। अनेक द्वीपों की यात्रा करता और आश्चर्यजनक एवं भयानक समुद्र को देखता हुआ, वह सुवर्णद्वीप जा पहुंचा। कहां तो महामंत्री का पद और कहां समुद्र का लांघना ! किसी ने सच ही तो कहा है—'अपयश से डरने वाले सज्जन क्या नहीं करते ?'

दीर्घदर्शी ने उस वणिक निधिदत्त के साथ खरीद-बिक्री करते कुछ समय तक उस द्वीप में निवास किया।

उस वणिक के साथ जब वह जहाज पर बैठा वापस लौट रहा था, तब उसने समुद्र की लहर के पीछे उठते हुए कल्पवृक्ष को देखा। उस वृक्ष की शाखाएं मूंगे की तरह सुंदर थीं। उसके स्कंद सुवर्ण जैसे चमचमाते हुए थे और वह मनोहर मणियों वाले फलों एवं पुष्पों से शोभित था। उस वृक्ष के स्कंध पर उत्तम रत्नों से युक्त एक पर्यक पड़ा हुआ था, जिस पर लेटी हुई एक अद्‌भुत आकार वाली सुंदर कन्या को उसने देखा।

वह अभी उस कन्या के बारे में सोच ही रहा था कि कन्या वीणा उठाकर एक गीत गाने लगी, जिसके बोलों का भावार्थ कुछ इस प्रकार था—"मनुष्य कर्म का जो बीज पहले बोता है, वह निश्चय ही उसका फल भोगता है। पहले किए हुए कर्मों के फल को विधाता भी नहीं टाल सकता।"

वह अलौकिक कन्या कुछ देर इस प्रकार गाकर उस कल्पवृक्ष, जिस पर वह लेटी थी, उस पर्यक सहित समुद्र में विलीन हो गई। दीर्घदर्शी ने सोचा—'यहां आज मैंने यह कैसा अद्‌भुत और अपूर्व दृश्य देखा। कहां यह समुद्र और कहां दिखकर विलीन हो जाने वाली गाती हुई अलौकिक स्त्री एवं वृक्ष। ऐसे अनेक आश्चर्यों की खान यह समुद्र सचमुच वंदनीय है। लक्ष्मी, चंद्रमा, पारिजात आदि भी तो इसी से निकले थे।'

ऐसा सोचकर दीर्घदर्शी अचरज में पड़ गया। यह देखकर नाविकों ने कहा—"श्रीमंत, आप शायद उस कन्या को देखकर आश्चर्यचकित हो रहे हैं। यह उत्तम कन्या तो इस प्रकार यहां अक्सर दिखाई पड़ती है। यह दिखाई देती है और फिर समुद्र में ही विलीन हो जाती है क्योंकि आपने इसे पहली बार देखा है, इसीलिए ऐसा आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं।"

"हां, शायद यही बात है।" दीर्घदर्शी बोला और उसी दिशा में देखता हुआ खामोश हो गया।

काफी देर तक चलने के बाद अंततः जहाज ने लंगर डाला, दीर्घदर्शी उस व्यापारी निधिदत्त के साथ समुद्र के पार पहुंचा। किनारे पहुंचकर व्यापारी निधिदत्त ने जहाज से सारा माल असबाब उतरवाया। दीर्घदर्शी भी निधिदत्त के साथ उसके घर पहुंचा, जहां हंसी-खुशी छाई हुई थी। थोड़े दिन निधिदत्त के यहां ठहरकर दीर्घदर्शी ने उससे कहा—"मैंने तुम्हारे यहां सुखपूर्वक बहुत दिन तक विश्राम किया। अब मैं अपने देश जाना चाहता हूं, तुम्हारा कल्याण हो।" निधिदत्त उसे जाने नहीं देना चाहता था किंतु दीर्घदर्शी का आग्रह उसे स्वीकार करना ही पड़ा। दीर्घदर्शी उसे समझा-बुझाकर वहां से चल पड़ा। केवल अपने ही बलबूते पर वह लम्बी राह तय करके अपने अंगदेश के निकट जा पहुंचा।

नगर के बाहर आए दीर्घदर्शी को उन गुप्तचरों ने देखा जिन्हें राजा यशकेतु ने उसकी खोज-खबर लेने के लिए पहले से ही नियुक्त कर रखा था। गुप्तचरों ने जाकर राजा को खबर पहुंचाई। मंत्री के बिछुड़ने से राजा दुखी था, अतः वह स्वयं ही उसकी अगवानी हेतु नगर के बाहर पहुंचा और उसके गले लगकर उसका अभिनंदन किया। दीर्घदर्शी को महल में लाकर राजा ने उसकी यात्रा का वृत्तांत पूछा तो दीर्घदर्शी ने सुवर्णद्वीप तक के मार्ग का सारा वृत्तांत उसे कह सुनाया। इतने में उतराती हुई उस अलौकिक कन्या का वृत्तांत भी उसने राजा को सुनाया जो अद्वितीय सुदरी थी और जिसे कल्पवृक्ष पर बैठकर उसने गाते देखा था।

उस कन्या की रूप-राशि का वृत्तांत सुनकर राजा इस प्रकार कामवश हो गया कि उसके बिना अब उसे अपना जीवन निष्फल जान पड़ने लगा। उसने मंत्री को एकान्त मे ले जाकर कहा—"उस कन्या को देखे बिना मैं जीवित नहीं रह सकूंगा। अतः मैं तुम्हारे बताए मार्ग से उसके पास जाता हूं। तुम न तो इस काम से मुझे रोको और न ही मेरे साथ चलो। मैं छिपकर अकेला ही वहां जाऊंगा। तुम मेरे राज्य की रक्षा करना। मेरी बात तुम टालना नहीं, अन्यथा तुम्हें मेरे प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।"

राजा ने अपनी बात के विरोध में मंत्री को कुछ कहने ही नहीं दिया और बहुत दिनों से उत्सुक उसके परिजनों के पास भेज दिया। वहां, बहुत हंसी-खुशी भरे वातावरण के होते हुए भी दीर्घदर्शी उदास ही रहा क्योंकि स्वामी यदि असाध्य कार्य को तत्पर हो तो मंत्री कैसे खुश रह सकता है ?"

अगले दिन राजा दीर्घदर्शी को अपना राज्यभार सौंपकर, रात को तपस्वी का वेश धारण कर नगर से बाहर निकला। मार्ग में मिले राजा ने कुशदत्त नामक मुनि को देखकर प्रणाम किया। मुनि ने तपस्वी-वेशधारी राजा से कहा—"तुम निश्चिंत होकर आगे बढ़ो। लक्ष्मीदत्त नामक वणिक के साथ जहाज से समुद्र में जाकर, तुम उस इच्छित कन्या को पाओगे।"

मुनि की बातें सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। वह मुनि को प्रणाम करके आगे बढ़ा। अनेक देशों, नदियों और पहाड़ों को पार करता हुआ, वह समुद्रतट पर जा

पहुचा। वहां मुनि के कथनानुसार उसकी भेट लक्ष्मीदत्त नामक उस वणिक से हुई, जो सुवर्णद्वीप जाने की इच्छा रखता था। राजा के पैरों मे चक्र का चिन्ह तथा राजोचित मुख-मुद्रा आदि देखकर उस वणिक ने उसे प्रणाम किया। राजा उसी के साथ उसके जहाज पर चढ़कर समुद्र में गया।

जहाज जब बीच समुद्र में पहुंचा, तब जल के भीतर से वही कल्पवृक्ष निकला, जिसके स्कंध पर वह कन्या को देखने लगा। इसी बीच वह वीणा बजाती हुई, यह सुन्दर गीत गाने लगी —''मनुष्य, कर्म का जो बीज पहले बोता है, वह निश्चित तौर पर ही उसका फल भोगता है। पहले किए हुए कर्मो के फल को विधाता भी नहीं टाल सकता। अतः देवयोग से जिसके लिए जहा, जो और जैसा भवितव्य (होनहार) है, उसे वह वहीं और उसी प्रकार प्राप्त करने के लिए विवश है—इसमें कोई संदेह नहीं है।''

राजा ने जब उसके द्वारा गाया गया वह गीत सुना, जिसमें भवितव्य का सदेश था तब वह काम-बाणों से आहत होकर, निःस्पंद बना, थोड़ी देर उस कन्या को देखता रहा।

अनन्तर, वह राजा झुककर इस प्रकार समुद्र की स्तुति करने लगा—''हे रत्नाकर ! हे अगाधहृदय ! तुम्हें नमस्कार है। तुमने इस कन्या को अपने भीतर छिपाकर, विष्णु को लक्ष्मी से वंचित किया है। जब तुमने पंखों वाले पर्वतों को आश्रय दिया, तब देवता भी तुम्हारा अंत नही पा सके। हे देव, मैं आपकी शरण में आया हूं, मेरी कामना पूरी करो।''

जब राजा इस प्रकार स्तुति कर रहा था, तभी वृक्ष सहित वह कन्या समुद्र में विलीन हो गई। यह देखकर राजा भी उसके पीछे-पीछे समुद्र में कूद पड़ा। सज्जन वणिक लक्ष्मीदत्त ने यह देखकर यही समझा कि राजा निश्चय ही मर गया, इस दुख से वह भी देह त्याग को उत्सुक हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुई, जिसने उसे इस प्रकार आश्वासन दिया—''ऐसा दुस्साहस मत करो। डूबे हुए इस मनुष्य को समुद्र में कोई भय नहीं है। तपस्वी वेशधारी इस राजा का नाम यशकेतु है। यह कन्या पूर्वजन्म की इसकी स्त्री है। यह इसीलिए यहां आया है। अपनी इस स्त्री को प्राप्त करके यह फिर अंग राज्य में चला जाएगा।''

यह सुनकर वह व्यापारी अपनी इष्टसिद्धि के लिए अपने अभीष्ट स्थान की ओर चला गया। उधर, डूबे हुए राजा यशकेतु को उस महासमुद्र में अकस्मात् एक अलौकिक नगर देखकर बहुत आश्चर्य बहुत आश्चर्य हुआ। वहां, जगमगाती मणियों के खम्बों वाले, सुवर्ण से दमकती दीवारों वाले और मोतियों की जाली से युक्त खिड़कियों वाले प्रासाद थे। वहा सरोवर थे, जिनकी सीढियां अनेक प्रकार की रत्न-शिलाओं से बंधी थीं और उद्यान भी थे, जिनमें कामना पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष थे। इन सबसे वह नगर अत्यंत शोभित हो रहा था। राजा ने हर घर में जा-जाकर अपनी प्रिया की खोज की किंतु वह उसे कहीं दिखाई न दी। तब वह एक ऊंचे मणि-भवन पर चढ़ गया और उसका द्वार खोलकर भीतर जा पहुंचा। भीतर उसने एक उत्तम रत्नों वाले पर्यक पर सिर-से-पांव तक चादर ओढ़े किसी को सोते हुए देखा।

'कहीं यही तो नहीं है'—ऐसा सोचते हुए उसने जैसे ही उसके मुंह से चादर हटाई, उसने अपनी मनचाही स्त्री को ही देखा।

मुख से चादर हटते ही वह सुंदरी अचकचाकर उठ बैठी और घबराई हुई नजरों से राजा को देखने लगी। फिर उसने राजा से पूछा—"आप कौन हैं और इस अगम्य रसातल में आप कैसे आ पहुंचे ? आपके शरीर पर तो राजचिन्ह अंकित है, फिर आपने यह तपस्वी का वेश क्यों बना रखा है ? हे महाभाग, यदि मुझ पर आपकी कृपा हो तो मुझे यह बतलाएं।"

तब राजा ने अपना परिचय दिया और आने का उद्देश्य भी बता दिया। फिर उसने उस सुंदरी से अपना परिचय देने को कहा तो सुंदरी बोली—"हे महाभाग ! मैं विद्याधरों के राजा, सौभाग्यशाली मृगांकसेन की कन्या मृगांकवती हूं। मेरे पिता न जाने किस कारण से मुझे इस नगर में अकेली छोड़कर, नगरवासियों सहित जाने कहां चले गए हैं। इसलिए इस सूनी बस्ती में जी न लगने के कारण, मैं समुद्र पर उतरकर, यांत्रिक कल्पवृक्ष पर बैठी भवितव्य के गीत गाया करती हूं।"

मृगांकवती के ऐसा कहने पर, उस मुनि की बातें स्मरण करते हुए राजा ने उसे अपनी प्यार-भरी बातों से इस तरह से रिझाया कि प्रेमवश होकर उसने उसी समय उस वीर राजा की पत्नी बनना स्वीकार कर लिया किंतु साथ ही एक शर्त भी लगा दी। उसने कहा—"आर्यपुत्र, प्रत्येक मास में शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को चार दिन के लिए, मैं आपके पास उपलब्ध नहीं रहूंगी। इन दिनों में मैं जहां चाहूं, आप न तो मुझे रोकेंगे और ना ही कोई प्रश्न पूछेंगे। बोलो स्वीकार है ?"

"हां प्रिये, मुझे स्वीकार है।"

राजा के ऐसा कहने पर अलौकिक कन्या ने उसी समय गांधर्व विधि से विवाह कर लिया। राजा उसके यहां रहते हुए दाम्पत्य-जीवन का सुख प्राप्त करने लगा।

जब कई दिन बीत गए तो एक दिन मृगांकवती ने उससे कहा—"आर्यपुत्र, मैंने जिसके बारे में आपसे कहा था, वह कृष्णपक्ष की चतुर्दशी आज ही है। मैं काम से कहीं बाहर जा रही हूं। आप यहीं मेरी प्रतीक्षा कीजिए, किंतु स्वामी, यहां रहते हुए आप उस स्फटिक के भवन में मत जाना क्योंकि वहां की वादी में गिरते ही आप भू-लोक में पहुंच जाएंगे।"

इस प्रकार राजा को समझा-बुझाकर वह नगर से बाहर चली गई। राजा के मन में कौतूहल हुआ इसलिए हाथ में तलवार लेकर वह भी छिपकर उसके पीछे-पीछे गया।

वहां राजा ने आते हुए एक राक्षस को देखा। वह अंधकार की तरह काला था और उसका मुख गव्हर खुला हुआ था जिससे वह साकार पाताल की भांति जान पड़ता था। उस राक्षस ने घोर गर्जन के साथ झपटकर मृगांकवती को अपने मुंह में डालकर निगल लिया।

यह दिखकर राजा सहसा क्रोध मे जल उठा। उसने कैचुल से निकले हुए सांप के समान अपनी तलवार म्यान से निकाली और दातो से होंट दबाकर झपटते हुए उस राक्षस का सिर काट डाला। उस राक्षस के धड़ से निकलते हुए रक्त से राजा की क्रोधाग्नि तो बुझ गई किंतु पत्नी की वियोग्नि न बुझ सकी। राजा उसके मोह-अन्धकार मे अंधा-सा हो गया। वह किंकर्तव्यविमूढ बना खड़ा रहा। तभी, जैसे दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ निर्मल चंद्रमा प्रकट होता है वैसे उस राक्षस के मेघ-मलिन शरीर को फाड़ती हुई जीती-जागती और अक्षत शरीर वाली मृगाकवती निकल आई।

राजा ने आश्चर्य से देखा कि उसकी प्रिया संकट को काट आई है। उसने 'आओ-आओ' कहते हुए दौडकर उसका आलिगन कर लिया। राजा ने जब यह पूछा—"प्रिये, यह स्वप्न है या कोई माया है ?"

तब उस विद्याधरी ने उससे कहा—"आर्यपुत्र ! यह न तो कोई स्वप्न है और न माया ही है। विद्याधरों के राजा, मेरे पिता ने मुझे जो शाप दिया था, यह उसी का परिणाम है। मेरे पिता पहले यहीं रहते थे। अनेक पुत्र होने पर भी वह मुझसे बहुत स्नेह रखते थे और कभी भी मेरे बिना भोजन नहीं करते थे। शिव के पूजन में रुचि होने के कारण मै शुक्ल और कृष्ण, इन दोनों पक्षों की अष्टमी और चतुर्दशी को इस निर्जन स्थान में आया करती थी। एक बार मैं चतुर्दशी को यहां आई और गौरी पूजन करती हुई ऐसी तल्लीन हो गई कि संयोगवश पूरा ही दिन बीत गया।

उस दिन मेरे पिता ने भूख लगने पर भी कुछ खाया-पिया नहीं। वे मुझ पर बहुत क्रुद्ध हो गए। मुझसे अपराध हो गया था, अतः रात होने पर जब मैं सिर झुकाए लौटी, तो मेरे पिता ने मुझे शाप दे डाला। होनी इतनी प्रबल थी कि उसने मेरे प्रति मेरे पिता के स्नेह को नष्ट कर दिया था। उन्होंने कहा—"जिस प्रकार तुमने मेरी उपेक्षा करके आज मुझे दिन-भर भूखा रखा, उसी प्रकार, हर माह की केवल अष्टमी और चतुर्दशी तिथियों को, जब तुम शिव पूजन के लिए नगर के बाहर जाओगी, 'कृतांत संत्रास' नाम का राक्षस तुम्हें निगल जाया करेगा किंतु तुम बार-बार उसका हृदय फाड़कर बाहर जीवित निकल आओगी। तुम यहां अकेली ही रहोगी और तुम्हें न तो मेरे शाप का स्मरण होगा, न निगले जाने का कष्ट ही।"

जब मेरे पिता मुझे इस प्रकार शाप दे चुके, तब मैंने अनुनय-विनय करके कुछ देर बाद उन्हें प्रसन्न किया, तब उन्होंने ध्यान करके इस प्रकार शाप के छूटने की बात कही—"जब अंग देश का राजा यशकेतु तुम्हारा पति बनेगा और तुमको राक्षस के द्वारा निगली गई देखकर उसे मार डालेगा, तब उसके हृदय को फाड़कर निकली हुई, तुम इस शाप से मुक्त हो जाओगी। तभी तुम्हें इस शाप का और अपनी सारी विद्याओं का स्मरण हो जाएगा।" इस प्रकार शाप से छुटकारे की बात बतलाकर और मुझे अकेली छोड़कर मेरे पिता भू-लोक में निषध पर्वत पर चले गए। तब से मैं शाप से मोहित हो वैसा ही करती हुई यहां पड़ी थी। आज उस शाप से मेरा छुटकारा हो गया और मेरी सारी स्मृतियां

भी लौट आई। अब मै निषध पर्वत पर अपने पिता के पास जा रही हू। शाप से मुक्त होने के बाद हम लोग फिर अपनी गति को प्राप्त हो जाते है। हम विद्याधरो में ऐसी ही प्रणाली है। आपको इस बात की स्वतत्रता है कि आप चाहे यहां रहे या अपने देश चले जाएं।''

मृगांकवती के ऐसा कहने पर राजा ने दुखी होकर उससे अनुरोध किया—''सुन्दरी ! तुम मुझ पर कृपा करके सिर्फ एक सप्ताह और रुक जाओ। हम उद्यान में क्रीड़ाएं करते हुए, अपनी उत्सुकताएं दूर करेगे। उसके बाद तुम अपने पिता के पास चली जाना और मैं भी अपने देश चला जाऊंगा।''

राजा की इस बात को उस मुग्धा मृगांकवती ने स्वीकार कर लिया। तब वह अपनी प्रिया के साथ उद्यानों एवं वापियों में छः दिन तक विहार करता रहा। सातवें दिन वह युक्तिपूर्वक अपनी प्रिया को उस भवन में ले गया जहां वह वापिका थी, जो भूलोक में पहुंचाने वाली यांत्रिक द्वार के समान थी। वहां मृगांकवती के गले में हाथ डालकर वह उस वापी में कूद पड़ा और उसके साथ अपने नगर के उद्यान की वापी में जा उतरा। वहां अपनी प्रिया के साथ आए राजा को उद्यान के मालियों ने देखा और प्रसन्न होते हुए उन्होंने मत्री दीर्घदर्शी को इस बात की सूचना पहुंचाई। अपनी इच्छित स्त्री को साथ लेकर आए राजा के निकट जाकर मंत्री उसके पैरों में गिरा और नगरवासियों के साथ वह उन्हे आदरपूर्वक राजमहल में ले गया।

मंत्री ने अपने मन में सोचा—'राजा ने इस अलौकिक स्त्री को कैसे प्राप्त कर लिया, जिसे मैंने क्षण मात्र के लिए आकाश में चमकने वाली बिजली के समान देखा था। सच है कि विधाता जिसके ललाट पर जो कुछ लिख देता है वह कितना ही असंभव होने पर भी उसे अवश्य ही प्राप्त कर लेता है।' मंत्री जब ऐसा सोच रहा था, तब दूसरे नागरिक भी राजा के वापस आने से प्रसन्न हो रहे थे और उस अलौकिक स्त्री की प्राप्ति के कारण आश्चर्य कर रहे थे।

सप्ताह-भर का समय कैसे आमोद-प्रमोद में बीत गया, राजा और मृगांकवती को पता ही नहीं चला। सात दिन बाद एकाएक मृगांकवती को अपने पिता के पास जाने की याद आई और उसने विद्याधरों की गति प्राप्त करने की इच्छा की। कितु अब उसे आकाश में उड़ने की विद्या स्मरण नहीं आई, यह जानकर उसे बहुत दुख पहुंचा, वह उदास रहने लगी।

राजा ने जब उससे उदास रहने का कारण पूछा तो उसने बताया—''आर्यपुत्र ! शाप से मुक्त होने पर भी मै इतने दिनों तक तुम्हारी प्रीति के कारण यहां रह गई हूं, इससे अपनी विद्या को भूल गई हूं और मेरी अलौकिक गति भी नष्ट हो गई है।'' यह सुनकर राजा यशकेतु बहुत प्रसन्न हुआ। अपनी विद्याधरी पत्नी के हमेशा उसके साथ रहने की कल्पना से उसके मन में आनन्द के लड्डू फूटने लगे।

''अपनी प्रिया को मैं इतने कष्ट उठाकर यहां लाया हूं, अब वह हमेशा यहीं रहेगी क्योंकि अपनी मायावी शक्तियां अब वह भूल चुकी है,'' राजा ने दीर्घदर्शी को

बताया। यह सुनकर दीर्घदर्शी अपने घर गया और उसी रात सोते समय हृदय फट जाने से उसकी मृत्यु हो गई।

दीर्घदर्शी की मौत से राजा को बहुत शोक हुआ किंतु समय बहुत बलवान होता है। वह भारी-से-भारी शोक को धीरे-धीरे समाप्त कर देता है। राजा भी दीर्घदर्शी की मृत्यु के गम भूलता गया और मृगांकवती के साथ रहकर बहुत दिनो तक राज-काज चलाता रहा।

यह कथा सुनाकर विक्रम के कंधे पर बैठे बेताल ने उससे पूछा—"राजन, अब तुम मुझे यह बतलाओ कि राजा यशकेतु का वैसा अभ्युदय होने पर भी उसके महामंत्री दीर्घदर्शी का हृदय क्यों विदीर्ण हो गया ? क्या उसका हृदय इस शोक से फट गया कि उसे वह अलौकिक स्त्री नहीं मिल सकी अथवा वह राज्य की इच्छा रखता था ? या राजा के वापस लौट आने से उसे जो दुख हुआ, उसके कारण ? राजन, जानते हुए भी यदि यह तुम मुझे नहीं बतलाओगे तो तुम्हारा धर्म नष्ट हो जाएगा और शीघ्र ही तुम्हारा सिर खंड-खंड हो जाएगा।"

यह सुनकर राजा विक्रमादित्य ने बेताल से कहा—"हे महाभाग ! उत्तम चरित्र वाले उस मंत्रिश्रेष्ठ के लिए इन दोनों में से कोई भी बात उचित नहीं जान पड़ती। इसके विपरीत उसने यह सोचा होगा कि जिस राजा ने केवल साधारण स्त्री में लिप्त होकर राज्य की उपेक्षा की थी, अब अलौकिक स्त्री के प्रति अनुरक्त होने पर उसका हाल क्या होगा। फिर, इसके लिए उसने जो इतना कष्ट उठाया, उससे लाभ के बदले हानि ही अधिक हो गई। ऐसा सोचने के कारण ही उस मंत्री का हृदय फट गया।"

राजा विक्रमादित्य के ऐसा कहने पर वह मायावी बेताल उसके कंधे से उतरकर पुनः अपने पहले वाले स्थान पर चला गया। धीर चित्त वाला राजा भी शीघ्रतापूर्वक उसे फिर से बलपूर्वक ले आने के लिए उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़ा।

❑❑❑

तेरहवां बेताल

ब्राह्मण हरिस्वामी की कथा

राजा विक्रमादित्य ने शिंशपा-वृक्ष से पहले ही की भांति बेताल को नीचे उतारा और उसे कंधे पर डालकर अपने गन्तव्य की ओर चल पड़ा। जाते हुए राजा से बेताल बोला—"राजन ! इस बार तुम्हें एक छोटी-सी कथा सुनाता हूं, सुनो।"

वाराणसी नाम की एक नगरी है, जो भगवान शिव की निवास-भूमि है। वहां देवस्वामी नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वहां का राजा उस ब्राह्मण का बहुत सम्मान करता था।

देवस्वामी धन-धान्य से बहुत सम्पन्न था। परिवार में सिर्फ तीन ही प्राणी थे, वह स्वयं, उसका पुत्र हरिस्वामी और अत्यंत उत्तम गुणों वाली पत्नी—लावण्यवती। लावण्यवती सचमुच अपूर्व सुन्दरी थी। ऐसा लगता था जैसे तिलोत्तमा आदि स्वर्ग की अप्सराओं का निर्माण करके विधाता को जो कुशलता प्राप्त हुई थी, उसी के द्वारा उसने उस बहुमूल्य रूप-लावण्य वाली स्त्री को बनाया था।

एक बार रात्रि को हरिस्वामी जब अपनी पत्नी के साथ अपने भवन की छत पर सोया हुआ था, तभी मदनवेग नाम का एक इच्छाधारी विद्याधर आकाश से विचरण करता हुआ उधर से निकला। उसने पति के पास सोई हुई लावण्यवती को देखा, जिसके वस्त्र थोड़े खिसक गए थे और उसके अंगों की सुंदरता झलक रही थी। उसकी सुंदरता देखकर मदनवेग उस पर मोहित हो गया। उस कामांध ने सोई हुई लावण्यवती को उठा लिया और आकाश में उड़ गया।

क्षण भर बाद ही हरिस्वामी जाग उठा और अपनी पत्नी को अपने स्थान से गायब पाकर घबरा उठा। वह सोचने लगा—'अरे यह क्या हुआ ? वह कहां गई ? क्या वह मुझसे नाराज हो गई है अथवा कहीं छिपकर मेरे मनोभाव जानने के लिए परिहास कर रही है ?' ऐसी अनेक शंकाओं से विकल होकर वह रात में महल, अटारी और दूसरी छतों पर जहां-तहां उसे खोजने लगा। घर और बगीचे में ढूंढने के पश्चात् भी जब लावण्यवती नहीं मिली, तब शोकाग्नि से संतप्त होकर वह आंखों में आंसू भरकर इस प्रकार विलाप करने लगा—"हे चंद्रबिम्ब बदने, हे ज्योत्सना गौरी, हे प्रिये ! समान गुणवाली होने के द्वेष से ही क्या यह रात तुम्हें सहन नहीं कर सकी। तुमने अपनी कांति से चंद्रमा को जीत लिया था; इसी कारण वह डरता हुआ अपनी शीतल किरणों से मुझे सुख पहुंचाया करता था। लेकिन प्रिये, अब तुम्हारे न रहने पर मौका पाकर जलते अंगारों के समान तथा विष बुझे बाणों के सदृश अपनी उन्हीं किरणों से वह मुझे घायल कर रहा है।"

हरिस्वामी इसी प्रकार विलाप करता रहा। बड़ी कठिनाई से वह रात तो किसी तरह बीत गई लेकिन उसकी विरह व्यथा नहीं मिटी। सवेरा होने पर सूर्य ने अपनी किरणों से संसार का अंधकार तो नष्ट कर दिया किंतु वह हरिस्वामी के महान्धकार को दूर न कर सका। रात बीत जाने पर चक्रवाक के जोड़े की विछोह की अवधि बीत जाती है और चकवे का चीखना बंद हो जाता है लेकिन रात बीतने पर भी हरिस्वामी के क्रंदन की ध्वनि कई गुना बढ़ गई, मानो चकवे के विलाप की शक्ति उसे मिल गई हो।

स्वजनों के सांत्वना देने पर भी वियोग की आग में जलते हुए उस ब्राह्मण को अपनी प्रियतमा के बिना धैर्य नहीं मिल सका। वह रो-रोकर यह कहता हुआ इधर-उधर घूमने लगा—'वह यहां बैठी थी, यहां उसने शृंगार किया था, यहां उसने स्नान किया था और यहां उसने विहार किया था।'

हरिस्वामी के इस प्रकार विलाप करने पर उसके मित्र एवं हितैषियों ने उसे समझाया—"वह मरी तो नहीं है, फिर तुम इतना रो-रोकर क्यों बेहाल हो रहे हो ? तुम जीवित रहोगे तो कभी-न-कभी उसे अवश्य ही कहीं पा लोगे। इसलिए धीरज रखकर अपनी प्रियतमा की खोज करो, उसे ढूंढ़ो, उद्यमी और पुरुषों के लिए संसार में की वस्तु अप्राप्य नहीं होती।"

हरिस्वामी के मित्रों, हितैषियों ने जब उसे इस प्रकार समझाया-बुझाया, तब कुछ दिनों बाद, बडी कठिनाई से वह किसी प्रकार धैर्य धारण कर सका। उसने सोचा कि 'मैं अपना सब कुछ ब्राह्मणों को दान करके संचित पापों को नष्ट कर दूंगा। पापों के नष्ट हो जाने पर फिर मैं घूमता-फिरता कदाचित् अपनी प्रिया को पा सकूंगा।' अपनी तत्कालीन स्थिति से ऐसा सोचकर वह उठा और स्नानादि से निवृत हुआ।

अगले दिन उसने यज्ञ में ब्राह्मणो को विविध प्रकार का अन्न-पान कराया और अपना समस्त धन उन्हें दान दे दिया। अनन्तर, एकमात्र ब्रह्मणत्व-रूपी धन को साथ लेकर वह अपने देश से निकला और अपनी प्रिया को पाने की इच्छा से, तीर्थो का भ्रमण करने के लिए निकल पड़ा।

भ्रमण के दौरान भयनाक ग्रीष्म ऋतु आ पहुंची। भयंकर गर्मी पड़ने लगी और अत्यंत गर्म हवाएं चलने लगीं। धूप से जलाशयों का पानी भी सूख गया। उस भयंकर गर्मी में धूप और गर्मी से व्याकुल होकर रूखा, दुबला और मलिन हरिस्वामी किसी गांव में घूमता-घामता जा पहुंचा। वहां, पद्मनाभ नाम का एक ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। हरिस्वामी भोजन की इच्छा से उसके घर पहुंचा।

उस घर के अंदर उसने बहुत-से ब्राह्मणों को भोजन करते देखा। वह दरवाजे की चौखट पकड़कर बिना कुछ बोले-चाले और हिले-डुले खड़ा हो गया। यज्ञ करने वाले उस ब्राह्मण पद्मनाभ की पत्नी ने जब उसे ऐसी अवस्था में देखा, तब उसे बड़ी दया आई। उस साध्वी ने सोचा—'हे मेरे प्रभु, यह भूख भी कैसी बलवती होती है, यह

किसे छोटा नहीं बना देती। इस व्यक्ति को ही देखो, यह भूख से व्याकुल होकर कैसे द्वार पर सिर झुकाए खड़ा है। यह लम्बी राह तय करके आया है, स्नान कर चुका है किंतु भूख से इसकी इन्द्रियां शिथिल हो गई है, अतः यह निश्चित ही अन्न पाने का अधिकारी है।' ऐसा सोचकर वह साध्वी घी और शक्कर के साथ पकी हुई खीर उसके लिए ले आई। खीर का पात्र हाथों में उठाकर उसे नम्रतापूर्वक देती हुई वह बोली—"कहीं किसी वापी (बावली) के तट पर जाकर तुम इसे खा लो। यह जगह तो ब्राह्मणों के भोजन के कारण अब जूठी हो गई है।"

"ऐसा ही करूंगा।" कहकर हरिस्वामी ने अन्न का वह पात्र ले लिया, फिर पास ही के बावली के किनारे जाकर उसने उस पात्र को वट-वृक्ष के नीचे रख दिया। उस बावली में हाथ-पैर धोकर, आचमन करके जब हरिस्वामी उस खीर को खाने ही जा रहा था कि इसी बीच एक बाज आकर उस वृक्ष पर बैठ गया। उस बाज ने अपने दोनों पंजों में एक काले सर्प को पकड़ रखा था। बाज जिस सर्प को पकड़कर लाया था, वह मर चुका था किंतु उसके मुख से जहरीली राल टपक रही थी। वह राल-वृक्ष के नीचे रखे उस अन्नपात्र में भी जा गिरी। हरिस्वामी ने यह सब नहीं देखा था, अतः उसने उस खीर को खा लिया।

क्षणोपरांत ही वह विष की वेदना से तड़पने लगा। वह सोचने लगा कि 'जब विधाता ही प्रतिकूल हो जाता है, तब सब कुछ ही प्रतिकूल हो जाता है। इसीलिए दूध, घी और शक्कर से बनी हुई यह खीर भी मेरे लिए विषैली हो गई।' यह सोचकर गिरता-पड़ता वह यज्ञ करने वाले उस ब्राह्मण के घर जा पहुंचा और उसकी पत्नी से बोला—"देवी, तुम्हारी दी हुई खीर से मुझे जहर चढ़ गया है, अतः कृपा करके किसी ऐसे आदमी को शीघ्र बुलाओ जो जहर उतार सकता हो, अन्यथा तुम्हें ब्रह्म-हत्या का पाप लगेगा।" यह कहते ही हरिस्वामी की आंखें उतर गईं और उसके प्राण निकल गए। वह साध्वी भाव-विह्वल होकर सिर्फ इतना ही कह पाई—"अरे, यह क्या हुआ ?"

यद्यपि वह स्त्री निर्दोष थी और उसने अतिथि का सत्कार भी किया था, फिर भी यज्ञ करने वाले उस ब्राह्मण ने अतिथि का वध करने का आरोप में क्रुद्ध होकर अपनी पत्नी को घर से निकाल दिया। उस साध्वी ने यद्यपि उचित कार्य किया था, फिर भी उसे झूठा कलंक लगा और उसकी अवमानना हुई इसलिए वह तपस्या करने के लिए किसी तीर्थस्नान को चली गई।

अनन्तर, धर्मराज के सम्मुख इस बात पर बहस हुई कि सांप, बाज और खीर देने वाली उस स्त्री में से ब्राह्मण-वध का शाप किसे लगा लेकिन कोई निर्णय नहीं हो सका।

यह कथा सुनाकर बेताल ने विक्रमादित्य से कहा—"राजन, धर्मराज की सभा में तो इस बात का निर्णय न हो सका, अतः अब तुम बताओ कि ब्रह्म-हत्या का पाप

किसे लगा ? जानते हुए भी तुम अगर नहीं बताओगे तो तुम्हें पहले वाला ही शाप लगेगा।"

शाप से भयभीत राजा ने जब बेताल की यह बात सुनी तो वह अपना मौन भंग करते हुए बोला— "हे बेताल, सर्प को तो वह पाप लग ही नहीं सकता क्योंकि वह तो स्वयं ही विवश था। उसका शत्रु बाज उसे खाने के लिए जा रहा था। खीर देने वाली उस ब्राह्मणी का भी कोई दोष नहीं था क्योंकि वह धर्म में अनुराग रखती थी और उसने अतिथि-धर्म का पालन करते हुए खीर को निर्दोष समझकर ही हरिस्वामी को खाने के लिए दिया था। अतः मैं तो उस जड़बुद्धि हरिस्वामी को ही इसका दोषी मानता हूं, जो खीर को बिना जांच किए, उसका रंग देखे, खा गया था। व्यक्ति को सामने परोसे भोजन की एक नजर जांच तो अवश्य ही करनी चाहिए कि वह कैसा है। इसीलिए तो बुद्धिमान लोग भोजन करने से पहले किसी कुत्ते को टुकड़ा डालकर उसकी परीक्षा करते हैं कि भोजन सामान्य है अथवा जहरीला। अतः मेरे विचार से तो हरिस्वामी ही अपनी मृत्यु का जिम्मेदार है।"

विक्रमादित्य ने बिल्कुल सही उत्तर दिया था, अतः बेताल संतुष्ट हुआ किंतु राजा के मौन भंग करने के कारण फिर उसकी जीत हुई और वह विक्रमादित्य के कंधे से उतरकर पुनः शिंशपा-वृक्ष की ओर उड गया। धीर हृदय वाला राजा विक्रमादित्य फिर उसे लाने के लिए उस वृक्ष की ओर चल पड़ा।

❑❑❑

चौदहवां बेताल
वणिक-पुत्री की कथा

विक्रमादित्य पुनः उस वृक्ष के पास पहुचा। पहले की ही भांति उसने बेताल को वृक्ष से नीचे उतारा और उसे कंधे पर डालकर खामोशी से उस योगी के पास चल पड़ा। रास्ते मे फिर बेताल ने मौन भंग करते हुए कहा—"राजन ! तुम थक गए हो, इसलिए तुम्हारे मार्ग की थकान दूर करने के लिए तुम्हें इस बार एक विचित्र कथा सुनाता हूं।"

आर्यावर्त्त में अयोध्या नाम की एक नगरी है। कभी वह नगरी, राक्षस कुल का नाश करने वाले श्री रामचन्द्र के रूप में अवतरित भगवान विष्णु की राजधानी थी। वहां वीरकेतु नाम का एक महाबाहु राजा हुआ करता था, जो उसी प्रकार उस नगर की रक्षा करता था, जैसे नगरी की रक्षा उसकी चारदीवारियां करती हैं।

उस राजा के राज्य की एक नगरी मे रत्नदत्त नाम का एक धनी वणिक रहता था। वह वणिक समूचे वणिक समाज का नायक था। दमयंती नाम की उसकी पत्नी से उसके यहा रत्नवती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई, जो देवताओं की आराधना से प्राप्त हुई थी। वह मनस्विनी कन्या अपने पिता के घर में रूप-लावण्य, विनय आदि सहज गुणों के साथ बढने लगी।

जब वह युवती हुई, तब रत्नवती से न केवल बडे-बड़े वणिक ही, अपितु राजा लोग भी विवाह हेतु याचना करने लगे किंतु वह युवती पुरुषों से घृणा करती थी। वह विवाह का नाम सुनते ही अपने प्राण त्यागने को उद्यत हो जाती थी। इकलौती संतान होने के कारण पिता उसकी बात मानने के लिए विवश हो जाता था। धीरे-धीरे यह बात सारी अयोध्या नगरी में फैल चुकी थी।

इस बीच, अयोध्या निवासियो के यहां लगातार चोरियां होने लगी। तब नगरवासियों ने मिलकर राजा वीरकेतु से निवेदन किया—"हम लोग रोज-रोज चोरों के द्वारा लूटे जाने पर भी हम उन्हे नहीं देख पाते, अतः आप ही इसका कोई उपाय करें।"

पुरवासियों के ऐसा कहने पर, राजा ने पहरेदारों को आदेश दिया कि वे छिपकर रात के समय उन चोरों का पता लगाएं।

पहरेदारों ने उन चोरो को पकड़ने का भरसक प्रयत्न किया किंतु वे उन चोरों को पकड़ने में असफल रहे। तब राजा ने स्वयं ही उन्हें पकड़ने का निश्चय किया और एक रात अकेला ही उन्हें पकड़ने के लिए निकल पड़ा।

जब रात के समय राजा शस्त्र लेकर चोरो की खोज में घूम रहा था तो एक जगह

उसने एक अकेले व्यक्ति को एक मकान की चारदीवारी कूदते हुए देखा। वह व्यक्ति बहुत सतर्कता पूर्वक चल रहा था। उसकी आखें शंकित और चंचल थीं तथा वह बार-बार मुड़कर पीछे देखने लगता था।

राजा को संदेह हुआ कि अवश्य ही यही वह चोर है, जो नगर मे चोरियां किया करता है। ऐसा सोचकर वह चोर के निकट पहुंचा। चोर ने उसे अपने समीप आया देखकर उसे भी कोई चोर समझा और जब उसने राजा से उसका परिचय पूछा तो यह कहकर राजा ने उस चोर को संतुष्ट किया कि वह भी एक चोर है।

तब उस चोर ने कहा—"तब तो तुम मेरे ही हमपेशा हुए और कहावत भी है कि चोर-चोर मौसेरे भाई। अतः मित्र तुम मेरे साथ मेरे घर चलो, मैं वहां तुम्हारा उचित स्वागत-सत्कार करूंगा।" राजा उसकी बात मानकर उसके घर गया, जो एक वन में खोदी हुई भूमि के नीचे तहखाने के रूप में था।

उस विशाल घर में सुख-सुविधाओं के समस्त साधन मौजूद थे। वहां तेज रोशनी वाले दीपो की रोशनी हो रही थी। राजा जब एक आसन पर बैठ गया, तब चोर घर के एक भीतरी हिस्से में चला गया। कुछ ही समय पश्चात् एक दासी वहां पहुची और फुसफुसाते स्वर में राजा से बोली—"हे महाभाग, आप यहां मृत्यु के मुख में क्यों चले आए ? यह पापी तो एक कुख्यात चोर है। जब यह बाहर निकलेगा तो निश्चय ही आपके साथ विश्वासघात करेगा। आपके लिए यही अच्छा रहेगा कि आप तुरत यहां से निकल जाएं।"

चोर का ठाठ-बाट देखकर बहुत कुछ अनुमान लगा चुका था। अतः उसने दासी के कथनानुसार उस समय वहां से पलायन करना ही उचित समझा और वह चुपचाप वहां से निकलकर अपने महल लौट आया। महल में पहुंचकर उसने तुरंत अपनी सेना की एक बड़ी-सी टुकड़ी को तैयार किया और सैनिकों को ले जाकर उस चोर के आवास को चारों ओर से घेर लिया। चोर ने जब इस प्रकार अपने को घिरा हुआ देखा तो वह समझ गया कि उसका भेद खुल गया है, इसलिए वह मरने का निश्चय करके युद्ध के लिए बाहर निकल आया।

उस चोर ने राजा की सेना के साथ अकेले ही जमकर खूब लोहा लिया। पर अत में राजा ने उसे निःशस्त्र करके पकड़ ही लिया। राजा उस चोर को बांधकर उसके घर की सारी वस्तुएं और धन लेकर महल लौट आया। सवेरा होने पर उसने उस चोर को सूली पर चढाकर प्राणदण्ड का आदेश दे दिया।

डौंढ़ी पीटकर जब उस चोर को वध-भूमि में ले जाया जा रहा था, तब अपने महल की छत पर से उस वणिक-कन्या रत्नावती ने उसे देखा। वह चोर घायल था, उसके अंग धूल से भरे थे, फिर भी रत्नावती उसे देखकर कामवश हो गई। उसने जाकर अपने पिता से कहा—"पिताजी, जिस पुरुष को ये लोग वध करने ले जा रहा है, मैंने मन-ही-मन उसे अपना पति स्वीकार कर लिया है। अतः आप राजा से

कहकर उसकी प्राण-रक्षा करे, अन्यथा मैं भी उसके पीछे अपने प्राण त्याग दूंगी।''

यह सुनकर वणिक को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने अपनी पुत्री से कहा—''पुत्री यह तुम क्या कह रही हो ? तुम तो उन राजाओं को भी अपना पति नहीं बनाना चाहती जो तुम्हारी कामना करते रहते हैं। फिर भी तुम विपत्ति में पड़े हुए इस दुष्ट चोर की इच्छा कैसे कर रही हो ?''

वणिक ने अपनी पुत्री को बहुत समझाया कि वह उस चोर को पति रूप में पाने की अपनी हठ छोड़ दे किंतु रत्नावती टस-से-मस न हुई और वह बार-बार अपने प्राण त्यागने की धमकी देती रही।

तब वह वणिक शीघ्रता से राजा के पास पहुंचा और अपना सब देकर भी राजा से उस चोर की मुक्ति मांगी। किंतु राजा ने सौ-करोड़ स्वर्ण मुद्राओं के बदले भी उस चोर को मुक्त करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। वणिक असफल होकर घर लौटा और जब उसने राजा के इन्कार के बारे में रत्नावती को बताया तो वह हठीली भी सबके समझाने-बुझाने के बाद भी चोर के साथ ही मरने को तैयार हो गई।

वह स्नान करके एक पालकी में बैठकर वध-भूमि में गई। पीछे-पीछे रोते हुए उसके माता-पिता एवं बंधु-बांधव भी वध-भूमि में पहुंच गए।

इसी बीच वधिकों (जल्लादों) ने चोर को सूली पर चढ़ा दिया था। सूली पर टंगे हुए उसके प्राण छटपटा रहे थे, तभी अपने कुटुम्बियों के साथ आती हुई रत्नावती पर उसकी निगाह पड़ी। लोगों से उसका वृत्तांत सुनकर उस चोर ने क्षण-भर तो आंसू बहाए, फिर वह खिलखिलाकर हंस पड़ा और ऐसी ही अवस्था में उसने अपने प्राण त्याग दिए।

बाद में उस साध्वी वणिक-पुत्री ने उस चोर के शरीर को सूली पर से उतरवाया और उसे लेकर श्मशान भूमि में उसके साथ चिता में जलने के लिए बैठ गई।

उसी समय आकाशवाणी और उस श्मशान में भगवान शिव ने अदृश्य रूप पहुचकर कहा—''पतिव्रते ! स्वय मरे हुए इस पति के प्रति तुमने जो भक्ति दिखलाई है, उससे मैं संतुष्ट हुआ हूं, अतः मुझसे कोई वर मांगो।''

यह सुनकर रत्नावती ने देवाधिदेव महादेव को प्रणाम करके उनसे यह वर मांगा—''हे देव ! मेरे पिता का कोई पुत्र नहीं है, उनको सौ पुत्रों की प्राप्ति हो। मेरे अतिरिक्त उनके यहां कोई संतान नहीं है अतः मेरे बिना वे जीवित नहीं रहेंगे।''

उस साध्वी के ऐसा कहने पर भगवान शिव उससे पुनः बोले—''तुम्हारे पिता को सौ पुत्र प्राप्त होंगे लेकिन तुम कोई दूसरा वर मांगो क्योंकि तुम्हारे जैसी वीर हृदय के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है।''

यह सुनकर उसने कहा—''हे प्रभु ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरे पति जीवित हो जाएं और धर्म में इनकी मति स्थिर रहे।''

''ऐसा ही होगा। तुम्हारा पति अक्षत शरीर जी उठे, धर्म में इसकी मति स्थिर रहे और राजा वीरकेतु इस पर प्रसन्न हो।'' आकाश से अदृश्य रूप में स्थित भगवान शिव ने ज्योंही ऐसा कहा, त्योंही वह चोर अक्षत अक्षत शरीर जीवित होकर उठ बैठा।

यह देख वणिक रत्नदत्त विस्मित भी हुआ और प्रसन्न भी। वह प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुत्री और जमाता को अपने बंधु-बांधवों सहित अपने घर ले गया। बाद में, पुत्र प्राप्ति का वर पाये हुए रत्नदत्त ने प्रसन्नतापूर्वक खूब धूमधाम से एक उत्सव का आयोजन किया, जिसमे उसने राजा सहित पूरे नगर को भोज के लिए आमंत्रित किया।

जब राजा ने यह समाचार सुना तो संतुष्ट होकर उसने चोर को बुलाकर अपना सेनापति बना दिया। उस अद्वितीय वीर चोर ने भी चोरी की वृत्ति छोड़ दी और उस वणिक-पुत्री से विवाह करके, राजा के अनुकूल रहकर सन्मार्ग अपना लिया।

राजा को यह कथा सुनाकर और उसे शाप का भय दिखाकर, उसके कंधे पर बैठे बेताल ने पूछा—''राजन, अब तुम यह बताओ कि उस वणिक-पुत्री को अपने माता-पिता के साथ आई देखकर सूली पर टंगा हुआ वह चोर पहले रोया क्यों और फिर हंसा क्यों ?''

राजा ने उत्तर में कहा—''बेताल ! वह चोर रोया तो इस दुख से था कि 'यह वणिक जो मेरा अकारण बंधु बना, उससे मैं उऋण नहीं हो सका और हंसा इस विस्मय से कि 'पति रूप में राजाओं का भी तिरस्कार करने वाली यह कन्या, ऐसी स्थिति में पड़े हुए मेरे प्रति कैसे अनुरक्त हो गई ?' सच है, स्त्री का चित्त बड़ा विचित्र होता है।''

राजा से अपने प्रश्न का सटीक उत्तर पाकर वह मायावी बेताल अपनी शक्ति के द्वारा राजा के कंधे से उतरकर पुनः शिशपा-वृक्ष की ओर उड़ गया। राजा भी पहले ही की तरह उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

पंद्रहवां बेताल

शशिप्रभा की कथा

पहले की ही भांति राजा विक्रमादित्य पुनः उस शिशपा-वृक्ष के पास जा पहुंचा। बेताल को उतारकर कंधे पर डाला और खामोशी से अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा। रास्ते में फिर बेताल ने मौन भंग करते हुए कहा—"राजन ! सचमुच ही तुम बहुत परिश्रम कर रहे हो, तुम्हारे श्रम को भुलाने के लिए इस बार मैं तुम्हें यह कथा सुनाता हूं किंतु शर्त वही रहेगी कि कथा के दौरान तुम मौन धारण किए रहोगे। यदि तुमने मौन भंग किया तो मैं पुनः अपने स्थान पर लौट जाऊंगा।"

विक्रमादित्य ने सहमति जताई तो बेताल ने उन्हें यह कथा सुनाई।

नेपाल में शिवपुर नाम का एक नगर था। वहां यशःकेतु नाम का एक राजा राज करता था। वह राजा अपने नाम के अनुसार ही यशस्वी था। प्रज्ञासागर नाम के अपने मंत्री को राज्यभार सौंपकर वह चंद्रप्रभा नाम की अपनी रानी के साथ सुख-भोग करता था। समय पाकर अपनी रानी से उसे शशिप्रभा नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। जब वह कन्या युवती हुई, तब एक बार बसंत ऋतु में यात्रा उत्सव देखने के लिए राजा अपनी रानी एवं कन्या सहित यात्रा का मेले देखने के लिए निकले।

उस मेले में एक धनी बाप का बेटा मनःस्वामी नाम का एक ब्राह्मण भी आया हुआ था। मेले के एक भाग में फूल चुनने को उद्यत उसने शशिप्रभा को देखा तो उस पर मोहित हो गया। मनःस्वामी सोचने लगा—'क्या यह रति है, जो कामदेव का बाण बनाने के लिए बसंत के द्वारा सुसज्जित पुष्पों को एकत्र कर रही है अथवा यह कोई वनदेवी है जो बसत-पूजन करने की इच्छा रखती है ?' वह ऐसा सोच ही रहा था कि उस राजकुमारी ने भी उसे देख लिया। कामदेव के समान मनःस्वामी को देखते ही वह भी उत्कंठित हो गई। तब न उसे फूलों की सुध-बुध रही, न अपने अंगों तथा अपने शरीर की। इस प्रकार वे एक-दूसरे के प्रेमरस में लीन रहे। उसी समय 'हाय-हाय' का शोर सुनाई दिया।

'क्या हुआ' यह जानने के लिए कंधे उचकाकर जब उन दोनों ने देखा तो उन्हें दौड़कर आता हुआ एक उन्मत्त हाथी दिखाई पड़ा। किसी दूसरे हाथी की गंध पाकर वह हाथी उन्मत्त हो गया था जो अपने खूंटों को उखाड़कर वृक्षों को रौंदता हुआ उसी दिशा में आ रहा था। उस पर महावत का एक अंकुश भी लटका दिखाई दे रहा था।

उसे देखकर भय से घबराए हुए राजकुमारी के अंगरक्षक भाग निकले। तब मनःस्वामी ने दौड़कर अकेले ही राजकुमारी को अपने दोनो हाथों से उठा लिया।

राजकुमारी को, जो उसके अंगों से थोड़ा सटी हुई थी और भय, प्रीति एवं लज्जा से व्याकुल हो रही थी, मन-स्वामी हाथी की पहुंच से बाहर, उसे बहुत दूर ले गया।

जब उसके रक्षक निकट आए तो उन्होंने मनःस्वामी की बहुत प्रशंसा की ओर राजकुमारी को उसके महल में ले गए। जाती हुई राजकुमारी बार-बार पलटकर मनःस्वामी को देखती जाती थी।

अपने महल में विकल होकर, वह अपने प्राणरक्षक का स्मरण करती हुई कामाग्नि में दिन-रात जलती हुई-सी रहने लगी।

राजकुमारी अपने अन्तःपुर में चली गई, यह देखकर मनःस्वामी भी उस उद्यान से लौट आया और उत्कंठित होकर सोचने लगा—''इसके बिना अब मुझमें जीने का उत्साह नहीं रह गया। अतः वह अपने सिद्ध और धूर्त गुरु मूलदेव के पास पहुंचा। मूलदेव अपने शशि नामक एक मित्र के साथ रहता था। उन्होंने माया के अद्‌भुत मार्ग सिद्ध कर लिए थे। अतः उन्हें मायावी शक्तियों का बहुत ज्ञान था। मनःस्वामी ने उनके पास जाकर जब अपनी समस्या बताई तो मूलदेव ने उसे पूरा करने का आश्वासन दे दिया।

अनन्तर, धूर्त शिरोमणि उस मूलदेव ने अपने मुंह में एक मंत्र सिद्ध गोली डाल ली और अपने को एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में बदल लिया। एक दूसरी गोली उसने मनःस्वामी के मुंह में डालने को दी, जिससे वह एक सुन्दर कन्या बन गया।

मूलदेव मनःस्वामी को लेकर उस राजकुमारी के पिता के पास पहुंचा और उसके पिता से बोला— ''राजन ! मेरा एक ही पुत्र है। मैं उसके लिए दूर से मांगकर इस कन्या को लाया हूं किंतु इसी बीच मेरे पुत्र न जाने कहां चला गया है। मैं उसे ढूंढ़ने के लिए जा रहा हूं। अतः इस कन्या को आप अपने पास रख लें। आपके विश्वास पर, इसे आपके आश्रय में रखकर, मैं अपने पुत्र को ढूंढ़कर ले आऊंगा।''

यह सोचकर कि इन्कार करने पर कहीं यह सिद्ध पुरुष क्रुद्ध होकर कोई शाप न दे दे, राजा यशःकेतु ने उसकी बात स्वीकार कर ली और अपनी कन्या शशिप्रभा को बुलाकर कहा—''बेटी ! तुम इस कन्या को अपने महल में ही रखना और इसका हर तरह से ख्याल रखना। इसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो, उसे भली-भांति पूर्ण करना।''

राजकुमारी ने अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की और वह कन्या बने मनःस्वामी को अपने राजमहल में ले गई।

महल में आई इस कन्या के साथ राजकुमारी थोड़े ही दिनों में हिल-मिल गई और उस पर सखियों जैसी प्रीति तथा विश्वास करने लगी। एक बार, रात के समय जब कन्या के वेश में अपने को छिपाए हुए मनःस्वामी राजकुमारी की शय्या के निकट ही एकान्त में सोया हुआ था, तब उसने विरह से व्याकुल राजकुमारी से, जो अपनी सेज पर छटपटा रही थी, पूछा—''सखी, तुम्हारी कान्ति पीली पड़ गई है, तुम

दिन-प्रतिदिन दुबली होती जा रही हो। शशिप्रभा, तुम ऐसी दुखी प्रतीत हो रही हो जैसे अपने प्रियतम से तुम्हारा विछोह हो गया हो। मुझे सारी बात सच-सच बताओ क्योंकि सखियो से दुराव उचित नही होता। यदि तुम मुझे सारी बाते सच नही बताओगी तो मै अन्न-जल त्यागकर आमरण अनशन शुरू कर दूगी।''

यह सुनकर राजकुमारी ने गहरी सास ली और धीरे से कहा—''सखी, भला तुम पर अविश्वास कैसा ? तुम अगर जानना चाहती हो तो सुनो—एक बार मे बसंतोद्यान मे होने वाली यात्रा देखने गई थी। वहां मैने एक सुन्दर ब्राह्मण कुमार को देखा। उसकी सुंदरता हिमयुक्त चंद्रमा के समान थी। उसे देखते ही मेरी कामना उद्दीप्त होने लगी। मै उसके चेहरे की ओर एकटक देखने लगी। तभी कालमेघ के समान चिघाड़ता हुआ एक हाथी वहां आया। उसने अपना बधन तोड़ दिया था। उस हाथी के माथे से मद-जल झर रहा था। उस विशालकाय हाथी को देखकर मेरे अंगरक्षक भाग खड़े हुए। मै भी बेहद भयभीत हो उठी। तभी तीर के समान वह ब्राह्मण कुमार मेरी ओर लपका और मुझे अपनी बाहों में उठाकर हाथी की पहुंच से दूर ले गया। चदन लगे अमृत से सिक्त जैसे उसके शरीर के स्पर्श से मेरी दशा न जाने कैसी हो गई। मै उसके शरीर के स्पर्श का आनंद लेती रही। स्वयं को उसकी गोद से उतारने का मैने तनिक भी प्रयास नहीं किया। तभी मेरे रक्षक आ पहुंचे और मै लाचार होकर उनके साथ वापस महल चली आई। तभी से अपनी रक्षा करने वाले उस युवक को मै सपनों में देखती रहती हूं। मैं सोते समय स्वप्न में देखती हूं कि वह मेरी खुशामद कर रहा है और सहसा चुम्बन-आलिंगन के द्वारा मेरी लज्जा दूर करने का प्रयत्न करता है किंतु मैं अभागिनी उसका नाम आदि न जानने के कारण उसे पा नहीं सकती। इस तरह प्रियतम के विरह की आग मेरा हृदय जलाती रहती है।''

राजकन्या की इन बातो से कन्या का रूप धारण किए हुए उस ब्राह्मण युवक मनःस्वामी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे लगा जैसे किसी ने अमृतरस पिला दिया हो। उसने कृतार्थ होकर और अपने को प्रकट करने का अवसर जानकर अपने मुंह से गोली निकाली और अपना असली रूप धारण कर लिया। उसने कहा—''हे चंचल आखों वाली, मैं ही वह व्यक्ति हूं जिसे उस उद्यान में दर्शन देकर तुमने खरीद लिया था। हे सुन्दरी ! पल-भर के परिचय के बाद ही तुमसे अलग होने पर मुझे जो कष्ट हुआ, उसी का यह परिणाम है कि मुझे स्त्री का रूप धारण करना पड़ा है। अतः मेरी और अपनी इस असहाय विरह व्यथा को दूर करो क्योकि मै इससे अधिक विरह व्यथा सहन नही कर सकता।''

अपने प्रियतम को सामने पाकर शशिप्रभा भाव-विह्वल हो उठी और प्रसन्नता से मनःस्वामी से ऐसे चिपक गई जैसे कोई लता, वृक्ष से चिपकती है। उन्होंने उसी समय गांधर्व विधि से विवाह कर लिया। फिर दोनों प्रेमी अपनी इच्छा के अनुसार सुख-भोग करने लगे।

इस प्रकार सफल मनोरथ वाला वह मनःस्वामी दो रूप धारण करके राजमहल में ही रहने लगा। दिन में मुंह में गोली डालकर वह स्त्री बन जाता था और रात को गोली निकालकर पुरुष।

कुछ समय बीतने के पश्चात् एक दिन राजा यशःकेतु के साले मृगांकदत्त ने अपनी कन्या मृगांकवती का विवाह प्रज्ञासागर नामक ब्राह्मण महामंत्री के पुत्र से कर दिया। विवाह के पश्चात् उन्होंने प्रज्ञासागर को बहुत-सा धन भी दिया। विवाह का निमंत्रण पाकर राजकुमारी शशिप्रभा अपनी ममेरी बहन के विवाह में सम्मिलित होने के लिए अपने मामा के घर चली गई। उसके साथ उसकी सहेलियां और अनुचरियां भी गईं। सुन्दर स्त्री का रूप धारण किए मनःस्वामी भी उनके साथ गया। वहां जब मंत्री के पुत्र ने स्त्री का रूप धारण किए मन.स्वामी को देखा तो वह उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गया और उसे प्राप्त करने की इच्छा करने लगा। उस कपट कन्या (मनःस्वामी) ने मंत्री के पुत्र का चित्त चुरा लिया था। वह जब अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ घर लौटा, तब उसे सब कुछ सूना-सा जान पड़ा।

मंत्री के पुत्र का मन हर पल उसी के रूप-लावण्य के ध्यान में रमा रहने लगा। अन्ततः वह एक दिन तीव्र अनुराग के सर्प से डसा जैसे पागल-सा हो उठा। मत्रीपुत्र के बंधु-बांधव यह सोचकर घबरा उठे कि 'यह क्या हुआ ?' हंसी-खुशी का उत्सव रोक दिया गया। यह वृत्तांत सुनकर उसका पिता प्रज्ञासागर भी वहां आ पहुंचा।

पिता ने जब उसे दिलासा दी तो उसे कुछ होश आया। उसने उन्माद में प्रलय करते हुए अपनी मनोकामना अपने पिता को कह सुनाई।

उसके पिता ने जब यह देखा कि स्थिति उसके हाथ से बाहर हो गई है तो वह बहुत व्याकुल हुआ। सारा वृत्तांत जानकर राजा भी वहां पहुंचे।

राजा ने जाकर देखा कि मनःस्वामी से गहरी वासना के कारण वह सातवीं मदनावस्था में पहुंच चुका है, तब शीघ्र ही उन्होंने अपने प्रजाजनो से कहा—"ब्राह्मण जिस कन्या को मेरे यहां रखकर गया है, उसे मै इसको कैसे दे दूं ? लेकिन यह भी सत्य है कि उसके बिना यह अन्तिम दशा में पहुंच जाएगा। इसके मरने पर मेरा मंत्री भी जीवित न रहेगा, जो इसका पिता है। अब आप लोग ही बतलाइए कि क्या करना चाहिए ?"

मदनावस्था की दस दशाएं बताई गई हैं जो इस प्रकार हैं:—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणानुवाद, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और स्मरण।

राजा की यह बातें सुनकर सभी प्रजाजनों ने कहा—"राजा का धर्म तो यही कहा गया है कि वह प्रजा के धर्म की रक्षा करे। धर्मरक्षा का मूल है, परामर्श और वह परामर्श मंत्रियों से ही मिलता है। इस प्रकार, मंत्री की मृत्यु से उस मूल का नाश हो जाता है अतः धर्म की हानि नहीं होने देनी चाहिए। पुत्र सहित इसे मंत्री का वध करने का पाप लगेगा, अतः इसकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए और आसन्न धर्म-हानि

को रोकना चाहिए। ब्राह्मण जो कन्या आपके यहां छोड़ गया है, उससे मंत्रीपुत्र का विवाह कर देना चाहिए। ब्राह्मण जब लौटकर आएगा और क्रोध करेगा, तब उसका प्रबंध कर लिया जाएगा।''

प्रजाजनो का यह कहना राजा ने मान लिया। वह उस बनी हुई कन्या को मत्रीपुत्र के हाथो सौपने के लिए शुभ-मुहूर्त्त निश्चित करके राजकुमारी के घर से उसे ले आया। तब कन्या-रूप वाले मन स्वामी ने राजा से कहा—''महाराज ! मै दूसरे के द्वारा किसी अन्य पुरुष के लिए लाई गई हूं। हे राजन ! यदि फिर भी आप मुझे किसी और को देना चाहते हैं तो वैसा ही करे। इससे जो धर्म या अधर्म होगा, वह आपका होगा। मैं विवाह तो करूंगी लेकिन तब तक अपने पति की सेज पर नहीं जाऊंगी जब-तक कि ब्राह्मण छ माह का तीर्थ भ्रमण करके नहीं लौटेंगे। यदि ऐसा नही हुआ तो मै दातों से अपनी जीभ काटकर अपना प्राणांत कर लूंगी।''

कन्या का रूप धारण करने वाले मनःस्वामी ने जब यह कहा तो राजा ने जाकर मत्रीपुत्र को समझाया। उसने भी निश्चिंत होकर यह बात मान ली और शीघ्र ही उससे विवाह कर लिया।

अनन्तर, एक ही सुरक्षित घर में अपनी पहली पत्नी मृगांकवती और उस बनावटी पत्नी को रखकर, स्त्री को प्रसन्न करने की इच्छा से वह मूर्ख तीर्थयात्रा के लिए बाहर चला गया। तत्पश्चात् स्त्री रूप धारण किए मनःस्वामी मृगांकवती के साथ एक ही महल में रहने लगा।

मन.स्वामी को इस प्रकार वहां रहते हुए कुछ समय बीत गया। एक बार रात में जब वह मृगांकवती के शयनकक्ष में लेटा हुआ था और परिचारिकाएं बाहर सो रही थीं, तभी उससे मृगांकवती ने एकांत में कहा—''सखी, मुझे नीद नहीं आ रही, कोई कथा सुनाओ।''

यह सुकर मनःस्वामी ने उसे वह कथा सुनाई जिसमें प्राचीन काल में सूर्यवंश के ऐल नामक राजश्री को गौरी के शाप से संसार को मोहित करने वाला स्त्री-रूप प्राप्त हुआ था। नंदनवन मे उसे देखकर बुध मोहित हो गए थे और एक-दूसरे की प्रीति मे हुए उनके संभोग से पुरुस्वा का जन्म हुआ था।

यह कथा सुनाकर उस धूर्त ने पुनः कहा—''इस तरह देवताओं के आदेश या मंत्र और औषधियों के प्रभाव से कभी-कभी पुरुष स्त्री बन जाते हैं और कभी स्त्री पुरुष बन जाती है। इस प्रकार कभी-कभी बड़ों में भी कामज संयोग हुआ करते हैं।''

मृगांकवती को विवाह के बाद ही उसका पति छोड़ गया था। मनःस्वामी के साथ रहने के कारण उसे उस पर भरोसा हो गया था। मनःस्वामी की बात सुनकर उसने कहा—''सखी, तुम्हारी यह कथा सुनते ही मेरा शरीर कांपने लगा है, हृदय बैठा-सा जा रहा है, बताओ तो भला यह कैसी बात है ?''

यह सुनकर स्त्री बना मनःस्वामी उससे बोला—''सखी, तुममें काम की जागति

के यह अपूर्व लक्षण हैं। मैं तो इसका अनुभव कर चुकी हूं पर तुमसे मैने नही कहा।"

उसके ऐसा कहने पर मृगांकवती धीरे से बोली—"सखी, तुम मेरे प्राणो के समान मुझे प्रिय हो। तुम समय को भी पहचानती हो। अत. मैं तुमसे क्या छिपाऊ। किसी प्रकार से यहां किसी पुरुष का प्रवेश हो पाता, तो अच्छा था।"

मृगांकवती के ऐसा कहने पर धूर्त मनःस्वामी उसका आशय समय गया और बोला—"यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम चिन्ता मत करो सखी। भगवान विष्णु की कृपा से मुझे एक ऐसा वरदान प्राप्त है कि मै अपनी इच्छा से जब चाहूं स्त्री बन जाऊ और जब चाहू पुरुष। अगर तुम चाहती हो तो मैं तुम्हारे लिए पुरुष बन जाती हू।"

ऐसा कहकर मनःस्वामी ने अपने मुख से गोली निकाल ली और उसने यौवन से उद्दीप्त अपना सुन्दर पुरुष-रूप उसे दिखलाया। इस तरह जब वे एक-दूसरे का विश्वास प्राप्त कर चुके और उनकी सारी यत्रणाए जाती रहीं तो समय के अनुसार वे सुख-भोग करने लगे। अनन्तर, मंत्रीपुत्र की उस भार्या के साथ वह ब्राह्मण दिन को स्त्री और रात को पुरुष बनकर भोग-विलास मे लिप्त रहने लगा।

कुछ समय बाद मत्रीपुत्र के लौटने का समय निकट आया, तो जान-बूझकर मनःस्वामी मृगांकवती के साथ रात के समय भागकर चला गया। इन्हीं घटनाओं के बीच, सारा वृत्तांत सुनकर उसका गुरु मूलदेव बूढ़े ब्राह्मण के रूप मे वहां फिर आया। उसके साथ युवक ब्राह्मण के रूप में उसका मित्र शशि भी आया। मूलदेव ने आकर राजा यशःकेतु से नम्रतापूर्वक कहा—"मै अपने पुत्र को ले आया हूं राजन । अब मेरी बहू मुझे लौटा दीजिए।"

तब शाप के भय से डरे हुए राजा ने सोच-विचार के साथ कहा—"हे ब्राह्मण, आपकी बहु तो न जाने कहां चली गई, अतः आप मुझे क्षमा करे। अपने अपराध के कारण मैं आपके पुत्र के लिए अपनी कन्या देता हूं।"

इस पर बूढ़ा ब्राह्मण धूर्तराज मूलदेव उसे बुरा-भला कहने लगा और उस पर वादे से मुकरने का आरोप लगाने लगा। अन्ततः किसी प्रकार राजा के अनुनय-विनय करने पर वह शांत हुआ और शशिप्रभा का विवाह अपने बनावटी बेटे के साथ होना स्वीकार कर लिया।

धूर्त मूलदेव नवविवाहिता वर-वधू को साथ लेकर अपने स्थान के लिए चल पड़ा। उसने राजा से धन की इच्छा नहीं की। बाद में जब मनःस्वामी वहां आया, तब उसके और शशि के बीच झगड़ा उत्पन्न हुआ। मनःस्वामी ने कहा—"शशिप्रभा को मुझे दे दो। गुरु की कृपा से इस कन्या को पहले मैंने ही ब्याहा था।"

शशि बोला—"मूर्ख, तू इसका कौन है ? यह तो मेरी स्त्री है। इसके पिता ने अग्नि को साक्षी मानकर इसको मुझे सौंपा है।"

इस तरह वे दोनों माया के बल से पाई हुई उस राजकुमारी के लिए झगड़ने लगे। लेकिन उनके झगड़े का निबटारा नहीं हो सका।

इतनी कथा सुनाकर बेताल ने विक्रम से पूछा—"हे राजन, अब तुम्हीं मेरा सशय दूर करो कि वह राजकुमारी वस्तुतः किसी स्त्री हुई ? यदि तुम जानते हुए भी मेरा संशय दूर नहीं करोगे तो तुम्हें पहले वाला ही शाप लगेगा।"

अपने कधे पर स्थित बेताल की यह बात सुनकर विक्रमादित्य ने उससे कहा—"बेताल, मैं समझता हूं कि न्यायतः वह राजकुमारी, शशि की ही स्त्री मानी जाएगी, जिसे उसके पिता ने सबसे सामने शशि के साथ ब्याहा था। मनःस्वामी ने तो चोरी से गंधर्व विवाह के द्वारा उसे पाया था। पराए धन पर चोर का न्यायसंगत अधिकार कभी नहीं होता।"

राजा की ये न्यायसंगत बातें सुनकर बेताल संतुष्ट हुआ और पहले की ही भांति उसके कंधे से अचानक उतरकर पुनः अपनी जगह चला गया।

राजा भी उसे लाने के लिए पुनः वापस लौट पड़ा।

सोलहवां बेताल
जीमूतवाहन की कथा

शिशंपा-वृक्ष के पास पहुंचकर विक्रमादित्य ने वृक्ष से बेताल को उतारा और पहले की तरह उसे कंधे पर डालकर मौनभाव से अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा। रास्त मे फिर मौन भंग करते हुए बेताल ने कहा—"राजन ! इस बार मै तुम्हें एंक और दिलचस्प कथा सुनाता हूं, पर शर्त वही रहेगी।"

राजा ने सहमति जताने पर बेताल ने इस बार यह कथा सुनाई।

बहुत पहले हिमवान पर्वत पर कंचनपुर नाम का एक नगर था। उस नगर का स्वामी जीमूतकेतु नामक एक पराक्रमी राजा था। राजा के महल के उद्यान में उसके पूर्वजों द्वारा देवताओं से प्राप्त एक कल्पवृक्ष था, जो उसकी समस्त मनोकामनाएं पूर्ण करता था। उस देववृक्ष के कारण राजा को धन-धान्य, ऐश्वर्य व वैभव की कोई कमी नहीं रहती थी। उस कल्पवृक्ष की कृपा से ही राजा को जीमूतवाहन नाम का एक पुत्र पैदा हुआ था जो अब युवावस्था में प्रवेश कर चुका था। जीमूतवाहन बहुत दानी था। वह समस्त प्राणियों पर दयाभाव रखता था एवं गुरुजनों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहता था। जीमूतवाहन क्योंकि बोधिसत्व के अश से पैदा हुआ था, अतः उसे अपने पूर्वजन्म का वृत्तांत भी ज्ञात था।

कुछ समय बाद जीमूतकेतु ने उसे अपना युवराज घोषित किया। प्रजा अपने युवराज को पाकर बहुत खुश हुई। एक दिन राजा के मंत्री ने आकर युवराज जीमूतवाहन से कहा—"युवराज, यह धन-धान्य, यह ऐश्वर्य सब कुछ कल्पवृक्ष के कारण ही है। अतः अपने कुल एवं प्रजा की समृद्धि के लिए इस देववृक्ष का सम्मान करना कभी मत भूलना, यह अजेय है। देवराज इन्द्र भी इसका महत्ता को स्वीकार करते हैं।'

युवराज जीमूतवाहन ने वैसा ही करने का वचन दिया। उसने मन ही मन सोचा—"मेरे पूर्वजों ने इस देववृक्ष का उचित लाभ नहीं उठाया। उन्होंने केवल इससे साधारण स्वार्थ की याचना करके इसे स्वयं तक ही सीमित रखा। इससे न केवल उनका (पूर्वजों) अपितु, इस महात्मा वृक्ष का स्थान बहुत छोटा कर दिया। आखिर संसार में और भी तो मानव रहते हैं। इस देववृक्ष का उपयोग समस्त प्राणिमात्र के कल्याण के लिए होना चाहिए।"

ऐसा सोचकर वह अपने पिता के पास पहुंचा और बोला—"पिताश्री, यह तो आप जानते ही हैं कि इस संसार-सागर में शरीर के साथ ही समस्त वस्तुएं लहरों की झलक के समान चंचल हैं। संध्या, बिजली और लक्ष्मी तो विशेष रूप से क्षणस्थायी हैं। देखते-ही-देखते मिट जाने वाली हैं। इन्हें कब किसी ने स्थिर रहते देखा है ?

पिताश्री ! इस ससार मे एकमात्र परोपकार ही चिरस्थायी है, जो धैर्य और यश का जन्मदाता है तथा युगो तक उसका साक्षी बना रहता है। तब फिर ऐसे क्षणिक सुखों के लिए हमने ऐसे देवतुल्य परोपकारी कल्पवृक्ष को व्यर्थ ही क्यो रख छोड़ा है ? जरा सोचिए पिताश्री, जिन हमारे पूर्वजो ने इसे 'मेरा है, मेरा है' कहते हुए रख छोड़ा था, आज वे कहा है ? जबकि यह परोपकारी वृक्ष आज भी मौजूद है।''

''तुम क्या कहना चाहते हो पुत्र ?'' जीमूतवाहन की बात सुनकर उसके पिता ने भ्रमित होकर पूछा।

इस पर जीमूतवाहन ने कहा—''पिताश्री ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं मनोरथ पूर्ण करने वाले इस देववृक्ष का उपयोग परोपकार की फल-सिद्धि के लिए करूं ?''

पुत्र की इच्छा जानकर जीमूतकेतु ने उसे ऐसा करने की आज्ञा प्रदान कर दी। तब जीमूतवाहन ने उस कल्पवृक्ष के समीप जाकर कहा—''हे देव ! तुमने हमारे पूर्वजो की सभी मनोकामनाएं पूरी की हैं लेकिन मेरी भी एक मात्र मनोकामना पूरी कर दो। कुछ ऐसा करो जिससे मैं इस पृथ्वी को दरिद्रतारहित देख सकूं। जाओ, तुम्हारा कल्याण हो, मै धन की इच्छा रखने वालों के लिए तुम्हारा विसर्जन करता हूं।''

युवराज ने हाथ जोड़कर जब यह कहा तो उस वृक्ष से आवाज आई—''तुम धन्य हो राजकुमार। तुम्हारे त्याग की मैं सराहना करता हूं। तुम्हारे पूर्वज मुझे देवताओं से मांगकर लाये थे, इसलिए मैं अब तक वचनबद्ध था। अब तुमने मेरा त्याग कर दिया है तो मैं जाता हूं। तुम्हारा कल्याण हो।'' पल-भर बाद ही वह वृक्ष आकाश में उड़ गया और उसने पृथ्वी पर इतना धन बरसाया कि वहां कोई भी गरीब न रहा। जीमूतवाहन के ऐसा करने से उसका यश तीनों लोकों में फैल गया। लोग उसके नाम की जय-जयकार करने लगे।

लेकिन जीमूतवाहन का कल्पवृक्ष को विसर्जन करना उसके बंधु-बांधवों का रास न आया। वे लोग उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने एकत्र होकर सोचा कि विपत्तियों का नाश करने वाला कल्पवृक्ष तो अब उनके पास रहा नहीं, उसे तो जीमूतवाहन ने लोक कल्याण के लिए दे डाला, अतः अब कंचनपुर पर सहज ही अधिकार किया जा सकता है। ऐसा सोचकर वे कचनपुर को अधिकार मे लेने के लिए युद्ध की तैयारियां करने लगे।

यह देखकर जीमूतवाहन ने अपने पिता से कहा—''पिताश्री, मैं आपके शौर्य को भली-प्रकार जानता हूं। विश्व में ऐसा कौन है जो शूरता में आपका सामना कर सके किंतु सगे-संबधियों को मारकर इस पापमय और नाशवान शरीर से राजसुख का उपभोग करना सर्वथा अनुचित है। अतः हमें स्वेच्छा से इस राज्य को त्यागकर कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए।''

इस पर उसके पिता ने कहा—''पुत्र, मैं तो तुम्हारे लिए ही इस राज्य की

कामना करता था। जब तुम स्वय ही इसके त्याग की बात कह रहे हो तो मुझे राज्य का प्रलोभन कैसे हो सकता है। अत: जैसा तुम उचित समझो, वैसा ही करो।''

इस प्रकार जीमूतवाहन अपना राज्य छोडकर अपने माता-पिता को साथ लेकर मलय पर्वत पर चला गया और चन्दनवन से ढके हुए एक झरने के पास वाली कदरा में आश्रम बनाकर रहने लगा। वहां विश्वावसु नाम के सिद्धों के राजा रहते थे। उनके पुत्र मित्रावसु से जीमूतवाहन की मित्रता हो गई।

एक बार घूमता-फिरता जीमूतवाहन, उपवन में स्थित भवानी गौरी का मदिर देखने के लिए गया। वहां उसने सखियों सहित एक उत्तम कन्या को देखा जो भगवती गौरी को प्रसन्न करने के लिए वीणा बजा रही थी। उस अप्सराओ को भी मात करने वाली कन्या का रूप-सौंदर्य देखकर जीमूतवाहन ठगा-सा रह गया। पहली ही निगाह में उस तन्वेगी (सुकुमारी) ने उसका हृदय चुरा लिया। वह कन्या भी कामदेव जैसे सुन्दर जीमूतवाहन को देखकर उस पर मोहित हो गई। वह एकटक उसी की ओर देखने लगी जिससे उसकी वीणा भी विकल आलाप करने लगी।

अनन्तर, जीमूतवाहन ने उसकी एक सखी से उस कन्या का नाम और उसका वंश पूछा। कन्या की सखी ने बताया कि उसका नाम मलयवती है और वह सिद्धो के राजा विश्वावसु की पुत्री तथा मित्रावसु की बहन है। तब उस सखी ने जीमूतवाहन से उसका नाम एवं वंश पूछा। यह जानने पर कि जीमूतवाहन विद्याधरो का राजा है, उसे बहुत खुशी हुई। उसने मलयवती के पास जाकर कहा—''सखी, विश्व में पूजे जाने योग्य महान विद्याधरों के राजा यहां पधारे है, तुम्हे आगे बढकर उनका स्वागत करना चाहिए।''

इस पर मलयवती मौन ही रही। लज्जावश उसके कदम आगे न उठ सके। तब उस सखी ने जीमूतवाहन से कहा—''मेरी यह सखी लजा रही है, अतः आप मुझसे ही यह सत्कार ग्रहण करें।'' ऐसा कहकर उसने एक पुष्पमाला जीमूतवाहन के गले में पहना दी।

तभी एक दासी ने उस सिद्धकन्या के पास आकर बताया—''राजकुमारी, आपकी माता जी आपको याद कर रही है। चलिए, विलम्ब मत कीजिए।'' तब मलयवती अनमने-से भाव से जीमूतवाहन की ओर देखती हुई वहां से चल पड़ी। उसके कदमों से ऐसा लग रहा था जैसे जीमूतवाहन के पास से वह विवश्ता में ही जा रही हो। जीमूतवाहन भी अपने आश्रम में लौट आया। उसका भी मन मलयवती में रमा हुआ था। घर आकर मलयवती अपनी माता से मिली और फिर अपने कक्ष में जाकर शय्या पर गिर पड़ी। उसके हृदय में कामाग्नि जल रही थी। उसकी आंखों में आंसू आ गए थे। उसकी सखियों ने उसके सन्ताप से भरे सारे शरीर पर चन्दन का लेप लगाया और कमल के पत्तों से पंखा झला। फिर भी, न तो वह सखियों की गोद में और न भूमि पर सोकर ही चैन पा सकी। रात-भर वह तड़पती ही रही। लज्जा के

भय से उसने किसी दूत को भी जीमूतवाहन के पास नहीं भेजा। उसके जीवन की आशा टूट-सी रही थी। उधर, कामाग्नि से पीडित जीमूतवाहन का भी लगभग वैसा ही हाल था। वह भी रात मुश्किल से व्यतीत कर सका।

सुबह होने पर वह फिर से गौरी के मंदिर में पहुंचा, जहां उसने मलयवती को देखा था। उसका मित्र मुनिकुमार भी उसके पीछे-पीछे आया और उसे कामज्वाला से विह्वल देखकर आश्वासन देने लगा। उसने पाया कि मलयवती भी वहां उपस्थित थी। मुनिकुमार के आश्वासन पर उस सिद्ध कन्या की ओर बढ़ा जो उसकी ही तरफ निहार रही थी।

जब उसे विश्वास हो गया कि राजपुत्री उसका निवेदन ठुकराएगी नहीं, तो उसने फलों की एक माला मलयवती के गले में डाल दी। मलयवती ने अपनी कोमल दृष्टि से जीमूतवाहन को देखते हुए एक नीलकमल की माला उसके गले में पहना दी। इस प्रकार आपस में एक शब्द बोले बिना ही उन दोनों ने स्वयंवर-विधि पूरी कर ली। तत्पश्चात् वह जीमूतवाहन की ओर प्रेमपूर्ण नजरों से देखती हुई वहां से विदा हो गई। जीमूतवाहन भी, जिसका मन अभी भी राजपुत्री में रमा हुआ था, थके कदमों से वापस अपने आश्रम लौट आया।

अपने-अपने स्थान पर पहुंचकर दोनों ही विरह-वेदना से तड़पने लगे। उस रात भी न तो जीमूतवाहन को ही नीद आई और न मलयवती ही सो सकी।

तीसरे दिन, जब वह बहुत व्याकुल हो गया तो इस आशा से कि शायद उधर, विरह की आग में जलती हुई मलयवती भी उससे मिलने वहां पहुंचेगी वह अपने मित्र मुनिकुमार के साथ उस गौरी माता के मंदिर जा पहुंचा। मलयवती भी वहां तभी पहुंची थी। माता गौरी के मंदिर में पहुंचकर, आंखों में आंसू भरकर मलयवती ने देवी से प्रार्थना की—"हे देवी माता, आपकी भक्ति से मैं इस जन्म में तो जीमूतवाहन को पति रूप में पा नहीं सकूंगी, अतः आपसे प्रार्थना करती हूं कि आप मुझे अगले जन्म में जीमूतवाहन को पति रूप में पाने का आशीर्वाद दीजिए।"

यह कहकर उसने अपने साथ लाई एक चादर से अपना गला घोंटना चाहा।

तभी आकाशवाणी हुई—"बेटी, ऐसा दुस्साहस मत करो। विद्याधरों का राजा जीमूतवाहन ही चक्रवर्ती होकर तुम्हारा पति बनेगा।" अपने उस मुनिकुमार मित्र के साथ जीमूतवाहन ने भी वह आकाशवाणी सुनी। वे दोनों एक वृक्ष के पीछे खड़े हुए थे। आकाशवाणी सुनकर तत्काल दोनों मलयवती के पास पहुंच गए।

जीमूतवाहन के उस मित्र मुनिकुमार ने मलयवती से कहा—"देखो, देवी का वर सचमुच तुमको इनके रूप में प्राप्त हो गया है। तुम्हारी मनोकामना भी पूरी हो गई। अब आत्महत्या करने की कोई जरूरत नहीं है।"

जब मुनिकुमार ऐसा कह रहा था, तभी जीमूतवाहन ने पास जाकर मलयवती के गले से फंदा निकाल दिया। लज्जा के कारण मलयवती आंखें झुकाकर जमीन

खुरचने लगी। तभी उसे ढूंढ़ती हुई उसकी सखी ने अचानक आकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—"सखी, प्रसन्नता की बात है कि तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ। मेरे सामने ही आज कुमार मित्रावसु ने तुम्हारे पिताश्री महाराज विश्वासु से यह कहा है कि, 'पिताजी, विद्याधरों के राजा के पुत्र संसार में सम्मानित और कल्पतरु का दान करने वाले जीमूतवाहन, जो अतिथिरूप में यहां उपस्थित हैं; अपनी मलयवती के लिए उनके जैसा कोई और वर नहीं है। अतः आप मलयवती का विवाह उन्हीं के साथ करके कृतार्थ हों।' महाराज विश्वासु ने भी कुमार की बात स्वीकार कर ली है इसलिए अब निश्चित है कि तुम्हारा विवाह जीमूतवाहन के साथ ही होगा। अतः अब तुम अपने घर चलो, और ये महाभाग भी अपने स्थान को जाएं।"

उस सखी के ऐसा कहने पर हर्ष और उत्कंठा से युक्त राजकुमारी बार-बार मुड़-मुड़कर देखती हुई वहां से चली गई। जीमूतवाहन भी अपने आश्रम की तरफ बढ़ चला। वहां उसने प्रतीक्षारत मित्रावसु से अपने अभीष्ट कार्य की बात सुनी और उसका समर्थन किया।

जीमूतवाहन को अपने पूर्वजन्म का स्मरण था। उसने मित्रावसु को बतलाया कि पूर्वजन्म में भी मित्रावसु उसका मित्र था और उसकी बहन उसकी पत्नी थी।

अनन्तर, मित्रावसु ने प्रसन्न होकर जीमूतवाहन के पिता को यह संवाद भेजा, जिससे वे संतुष्ट हुए। तत्पश्चात् अपने लक्ष्य में सफलता पाने वाले मित्रावसु ने जाकर अपने माता-पिता से भी यह संवाद कहा, तो उन्हें भी प्रसन्नता हुई।

उसी दिन मित्रावसु, जीमूतवाहन को अपने घर ले गया और अपनी क्षमता तथा वैभव के अनुसार आनंद-उत्सव की व्यवस्था करने लगा। उसने उस शुभ दिन में विद्याधरों के स्वामी जीमूतवाहन के साथ अपनी बहन मलयवती का विवाह कर दिया। बाद में जीमूतवाहन, जिसका मनोरथ पूरा हो गया था, अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ वहीं रहता रहा।

एक बार सहज कौतूहल से मित्रावसु के साथ घूमता हुआ जीमूतवाहन समुद्र तट के निकट एक वन में जा पहुंचा। वहां हड्डियों के बड़े-से ढेर को देखकर उसने मित्रावसु से पूछा कि हड्डियों के ये ढेर किन प्राणियों के हैं ?

तब मित्रावसु ने दयालु जीमूतवाहन से कहा—"सुनो, मैं इसका सारा वृत्तांत तुम्हें संक्षेप में सुनाता हूं।"

प्राचीन काल में सर्पो की माता कद्रू ने गरुड़ की माता विनता को बाजी लगाकर धोखे से हरा दिया और अपनी दासी बना लिया था। बाद में बलवान गरुड ने यद्यपि अपनी माता को स्वतंत्र करा लिया फिर भी, उस बैर के कारण वह कद्रू के पुत्र सर्पो से द्वेष रखते हुए उनका भक्षण करने लगा। अक्सर वह पाताल लोक मे जाकर कुछ सर्पों को मार डालता और कुछ भय के कारण स्वयं ही मर जाते थे।

तब, नागों के राजा वासुकि को यह चिन्ता हुई कि इस तरह से तो सर्पकुल का विनाश

ही हो जाएगा। अतः उसने विनयपूर्वक गरुड़ के सामने एक योजना रखी—'हे पक्षीराज, इस दक्षिण समुद्र के किनारे तुम्हारे भोजन के लिए मै प्रतिदिन एक सर्प भेज दिया करूंगा किंतु तुम किसी प्रकार, किसी भी समय पाताल में नहीं आओगे; क्योंकि एक साथ ही सब सर्पो के नष्ट हो जाने से तुम्हें भी कुछ लाभ नहीं होगा।'

गरुड़ ने भी इसमें अपना लाभ देखा और वासुकि की बात स्वीकार कर ली। पक्षीराज गरुड़ इस तट पर वासुकि द्वारा भेजे हुए एक सर्प को प्रतिदिन खाया करता है। यह उसी के द्वारा खाये गए सर्पो की हड्डियां हैं, जो समय पाकर बढ़ते-बढ़ते अब पर्वत शिखर के समान हो गई हैं।

दया और धैर्य के सागर जीमूतवाहन ने मित्रावसु के मुख से जब यह वृत्तांत सुना तो उसके मन को भारी कष्ट पहुंचा। उसने कहा—"शोक करने के योग्य तो सर्पो का राजा वासुकि है जो ऐसा कायर है कि प्रतिदिन अपनी प्रजा को शत्रु को भेंट कर देता है। हजार मुखवाला यह वासुकि अपने एक मुख से भी यह क्यों नहीं कह सका कि 'गरुड़, पहले तुम मुझे ही खा लो।' प्रतिदिन नगरपत्नियों का विलाप सुनकर भी उस निर्दयी वासुकि ने अपने कुल का नाश करने वाले गरुड़ से प्रार्थना क्यों की ? अरे, मोह भी कैसा गाढ़ा होता है ! यद्यपि गरुड़ महर्षि कश्यप का पुत्र है, वीर है और भगवान विष्णु का वाहन होने के कारण पवित्र है, फिर भी ऐसा पाप करता है।'

ऐसा कहकर परम पराक्रमी जीमूतवाहन ने मन-ही-मन निश्चय किया कि 'इस नाशवान शरीर से मैं अमरता प्राप्त करूंगा। मैं आज ही अपना शरीर देकर गरुड़ के पंजे से कम-से-कम एक ऐसे सर्प की रक्षा करूंगा जो हितैषियों से रहित तथा डरा हुआ है।'

जीमूतवाहन ऐसा सोच ही रहा था तभी मित्रावसु के पिता के पास से एक प्रतिहारी उन्हें बुलाने के लिए वहां पहुंच गया। जीमूतवाहन ने यह कहकर उसे घर भेज दिया कि 'तुम चलो, मैं कुछ देर बाद आऊंगा।'

मित्रावसु के जाने के बाद जीमूतवाहन वैसे ही इधर-उधर विचरण करने लगा। तभी उसके कानों में किसी के रुदन का स्वर सुनाई पड़ा। वह पास पहुंचा और छिपकर एक शिलाखंड के नीचे खड़ा हो गया। वहां उसने एक वृद्धा नागस्त्री को विलाप करते देखा। उसके समीप ही एक सुंदर-सा काले रंग वाला नागयुवक खड़ा था, जो उस स्त्री से अनुनयपूर्वक उसे घर लौट जाने को कह रहा था।

'यह कौन है ?' इसे जानने को उत्सुक जीमूतवाहन ने छिपकर उनकी बातें सुनीं। वृद्धा स्त्री उस युवक से रोते हुए कह रही थी—"हा शंखचूड़, हा सौ-सौ दुखों से पाए हुए मेरे गुणी पुत्र ! हा मेरे कुल के एकमात्र सूत्र, अब मैं फिर तुम्हें कहां देख सकूंगी। हा मेरे कुलदीपक ! तुम्हारे बिना तुम्हारे वृद्ध पिता कैसे अपना बुढ़ापा काट सकेंगे ? तुम्हारे जो अंग सूर्यकिरणों के स्पर्श से भी कुम्हला जाते थे, वे गरुड़ के द्वारा खाये जाने की पीड़ा कैसे सहन कर पाएंगे ? नागलोक तो बहुत बड़ा है, फिर विधाता

और नागराज ने मुझ अभागिनी के एकमात्र पुत्र, तुम्ही को क्यो चुन लिया ?''

इस प्रकार रोती-बिलखती हुई उस मां से उसके युवा पुत्र ने कहा—''मां, मैं तो स्वय ही बहुत दुखी हूं। तुम मुझे और दुखी क्यों कर रही हो ? अब तुम घर लौट जाओ। मैं तुम्हें अंतिम प्रणाम करता हूं। गरुड़ के आने का समय हो रहा है।'' यह सुनकर वृद्धा पछाड खाकर गिर पड़ी और किसी की सहायता मिलने की आशा में इधर-उधर व्याकुल नेत्रों से देखने लगी।

यह सब देखकर और सुनकर बोधिसत्व के अंश-रूप जीमूतवाहन को बड़ी दया आई। वह सोचने लगा 'आह ! तो यही है शखचूड़ नामक वह नाग, जिसे वासुकि ने गरुड़ के भोजन के लिए भेजा है और यह इसकी वृद्धा माता है जो अपने एकमात्र पुत्र के स्नेह के कारण ममतावश रोती हुई यहां तक आई है। आज यदि मैंने इसके जीवन की रक्षा न की तो मेरे जीवन को धिक्कार है।'

यह सोचकर वह उस वृद्धा और युवक के पास पहुचा और बोला—''मां तुम चिता मत करो, मैं तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूंगा।'' वृद्धा उसे देखकर भयभीत हो गई। उसने समझा कि वही गरुड है। ऐसा विचारकर उसने कातर स्वर मे जीमूतवाहन से कहा—''गरुड़, मेहरबानी करके तुम मुझे खा लो किंतु मेरे पुत्र का जीवन बख्श दो।''

तब शंखचूड़ ने अपनी माता को धीरज दिया—''मां, तुम डरो मत, यह गरुड़ नही है। कहां चद्रमा के समान आनद देने वाले ये महापुरुष और कहां वह नागभक्षी गरुड़ ! शंखचूड़ के ऐसा कहने पर जीमूतवाहन ने कहा—''मां, तुम घबराओ नहीं, मैं एक विद्याधर हूं। तुम्हारे पुत्र की रक्षा के लिए यहां आया हूं। उस मूर्ख गरुड़ को मै अपना शरीर अर्पित करूंगा। तुम अपने पुत्र के साथ घर लौट जाओ।''

यह सुनकर वृद्धा ने कहा—''ऐसा मत कहो, तुम भी मेरे पुत्र के समान हो। तुमने मेरे पुत्र की जगह अपना बलिदान देने की बात कहकर मुझ पर बहुत कृपा की है।''

तब जीमूतवाहन ने कहा—''मां, जब तुमने मुझे पुत्र कहकर यह सम्मान दिया है तो मेरे मनोरथ को सिद्ध होने दो, मुझे इस बलिदान से मत रोको, मां ! अन्यथा मैं यह समझूंगा कि मेरा जीवन व्यर्थ ही गया।''

जीमूतवाहन ने जब ऐसा कहा, तब शंखचूड़ उससे बोला—''हे महासत्त्व, तुमने सचमुच बहुत दयालुता दिखलाई है किंतु मैं अपने लिए तुम्हारे जीवन का बलिदान स्वीकार नहीं कर सकता। मेरे जैसे साधारण व्यक्तियों से तो यह संसार भरा पड़ा है किंतु आप जैसे विरले ही इस संसार में मिलते हैं। हे सुबुद्धि ! चन्द्रबिंब के कलंक के समान मैं अपने पिता शंखपाल के पवित्र कुल को मलिन न कर सकूंगा।''

ऐसा कहकर शंखचूड़ ने अपनी माता से कहा—''मां, तुम इस दुर्गम वन से लौट जाओ। क्या तुम इस वध्य-शिला को नहीं देखती जो सर्पों के रक्त से भीगी हुई है

और यमराज की विलास शय्या के समान भयानक है। मैं गरुड़ के आने से पहले ही समुद्र तट पर जाकर भगवान गोकर्ण को प्रणाम करके शीघ्र ही लौटकर आता हूं।" यह कहकर शंखचूड़ ने करुण स्वर में रोती हुई अपनी माता से विदा लेकर उसे प्रणाम करके गोकर्ण की वन्दना के लिए वहां से प्रस्थान किया।

जीमूतवाहन यह सोचकर कि 'यदि इसी बीच गरुड़ आ जाए, तो मेरा मनोरथ पूरा हो जाए, वह उस शिला पर जाकर लेट गया जो गरुड़ के शिकार के लिए निश्चित की गई थी।

कुछ ही क्षण बाद गरुंड़ वहां पहुंच गया। उसने जीमूतवाहन को अपने विकराल पंजों में दबाया और ऊपर उड़ गया। जीमूतवाहन को पंजों में दबाए हुए जब गरुड़ उसे चोंच मार-मारकर खाने लगा तो उसके शरीर से रक्त झर-झरकर नीचे टपकने लगा। इस बीच जीमूतवाहन का शिरोमणि, जिस पर रक्त लगा हुआ था, नीचे ठीक उस स्थान पर जाकर गिरी जहां उसका पिता, माता एवं उसकी पत्नी मलयवती बैठे हुए थे।

मलयवती ने अपने पति की शिरोमणि को तुरंत पहचान लिया और वह विह्वल हो उठी। आंखों में आंसू भरकर उसने अपने सास-ससुर को जब वह शिरोमणि दिखाई तो वे भी घबरा उठे।

तत्पश्चात्, अपनी विद्या के द्वारा ध्यान करके राजा जीमूतकेतु ने सारा वृत्तांत जान लिया और वह अपनी रानी कनकवती तथा पुत्रवधु के साथ शीघ्र ही उस स्थान की ओर चल पड़े जहां गरुड़ जीमूतवाहन को ले गया ता।

इधर शंखचूड़ जब गोकर्ण को प्रणाम करके लौटा तो उसने विकल होकर देखा कि वध्य शिला रक्त से भीगी हुई थी। शंखचूड़ समझ गया कि परोपकारी जीमूतवाहन ने उसकी जगह स्वयं का बलिदान कर दिया था। तब उसने मन में सोचा कि 'मैं इस बात का पता अवश्य लगाऊंगा कि सर्पों का शत्रु वह गरुड़ उस महान आत्मा को कहां ले गया है ? यदि मैं उसे जीवित पा सका तो अपयश के कलंक को अपने माथे से धो सकूंगा।'

तब शंखचूड़ खून की टपकी बूंदों के सहारे आगे बढ़ता गया। उधर गरुड़ जब जीमूतवाहन को खा रहा था तो एकाएक उसे यह जानकर कुछ संदेह-सा हो गया कि उसका शिकार बजाय चीखने-चिल्लाने के शांत भाव से प्रसन्नचित उसी की ओर देख रहा था। इस पर उसने उसे खाना बंद करके सोचा—'अरे, यह तो कोई अपूर्व व्यक्ति है जो ऐसा पराक्रमी है कि मेरे खाये जाने पर भी प्रसन्न हो रहा है और इसके प्राण भी नहीं निकलते। इसके शरीर का जो थोड़ा-बहुत भाग शेष रह गया है, उसमें भी स्पंदन नहीं है। यह तो मुझे इस तरह देख रहा है जैसे इसे खाकर मैं इस पर कोई उपकार कर रहा हूं। अवश्य ही यह सर्प नहीं है, निश्चित ही यह कोई सज्जन व्यक्ति है। अब मैं इसे नहीं खाऊंगा।'
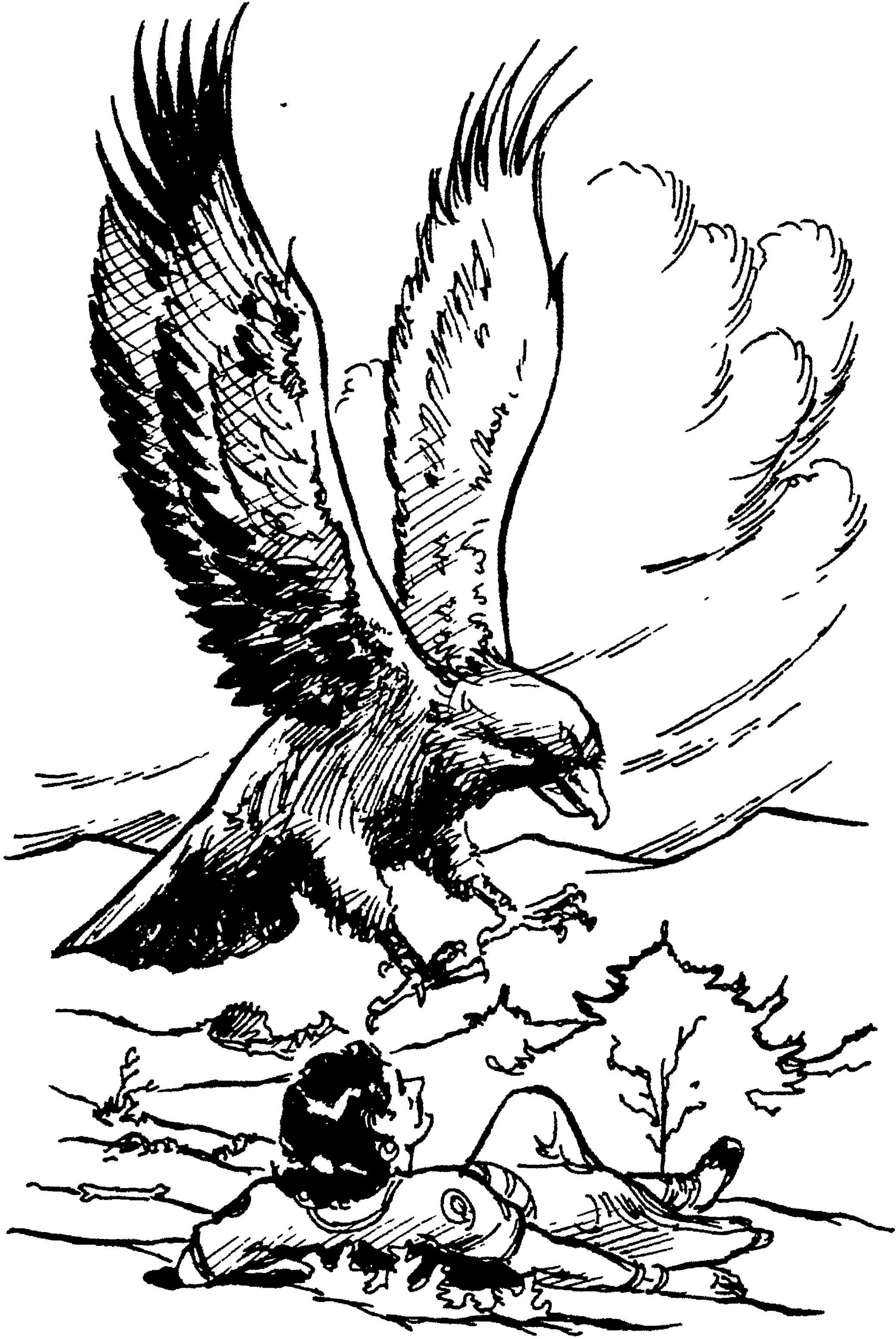
गरुड़ ऐसा सोच ही रहा था कि जीमूतवाहन बोला—"रुक क्यों गए पक्षिराज। मुझे खाओ और अपनी क्षुधा शांत करो। अभी तो मेरे शरीर का काफी हिस्सा शेष है।"

यह सुनकर गरुड़ को बहुत आश्चर्य हुआ। वह बोला—"हे महात्मन, कौन हैं आप ? सर्प तो आप हो ही नहीं सकते, फिर आप कौन हैं ? कृपा करके मुझे अपना परिचय दें।"

जीमूतवाहन ने उत्तर में कहा—"यह तुम्हारा कैसा प्रश्न है गरुड़ ? मैं तुम्हारा भक्ष्य हूं और कुछ भी नहीं। अतः निर्मम होकर मेरा भक्षण करो।

जीमूतवाहन जब गरुड़ से यह बातें कर रहा था, उसी समय शंखचूड़ उन्हें खोजता हुआ वहां आ पहुंचा। उसने दूर से ही गुहार लगाई—"रुको विनता पुत्र। इसे खाकर कलंक के भागी मत बनो। यह तुम्हारा भक्ष्य नहीं है, तुम्हारा भक्ष्य तो मैं हू, एक नागपुत्र।"

यह कहता हुआ वह दौड़कर वहां पहुंचा और उन दोनों के बीच खड़ा हो गया। गरुड़ को चक्कर में पड़ा देखकर शंखचूड़ ने पुनः कहा—"किसी भ्रम में मत पड़ो विनता पुत्र। तुम जिसे अपना भक्ष्य समझकर उठा लाए हो, वह तो एक महान आत्मा, महान परोपकारी, विद्याधरों का राजा जीमूतवाहन है। तुम्हारा असली शिकार तो मैं हू। यह देखो मेरी दो जुबानें और मेरा फन...।" ऐसा कहकर शंखचूड़ ने अपनी दोनों जुबानें और अपना फन उसे दिखाया।

जब शंखचूड़ गरुड़ को अपना फन दिखा रहा था, ठीक उसी समय जीमूतवाहन की पत्नी और उसके माता-पिता भी वहां आ पहुंचे और जीमूतवाहन के क्षत-विक्षत शरीर को देखकर हाहाकार करने लगे।

यह सब जानकर गरुड़ को भारी पश्चाताप हुआ। वह अपने मन में सोचने लगा कि 'हाय ! मैने भ्रम में पड़कर बोधिसत्व के इस अंश को कैसे खा लिया ? यह तो दूसरों को प्राण देने वाला वही जीमूतवाहन है जिसका यश तीनों लोकों में फैला हुआ है। अतः अब यदि इसकी मृत्यु हो गई तो मुझ पापी को अग्नि में प्रवेश करना पड़ेगा, क्योंकि अधर्म रूपी विष-वृष का फल पककर भला मीठा कैसे हो सकता है ?"

गरुड़ जब इस प्रकार पश्चाताप कर रहा था, तभी जीमूतवाहन ने अपने माता-पिता एवं पत्नी की ओर देखा। एकाएक उसका शरीर जोर से कांपा और उसके प्राण पखेरू उड़ गए।

अपने पुत्र को मृत समझकर जीमूतवाहन के माता-पिता आर्तनाद करने लगे। शंखचूड़ भी स्वयं को बार-बार कोसने लगा कि उसी के कारण इस महात्मा की जान गई। उसकी पत्नी मलयवती आंखों में आंसू भरकर आकाश की ओर देखती हुई उस अम्बिका को उलाहना देने लगी जिसने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया था। वह बोली—"हे देवी, उस समय तो आपने मुझे यही वरदान दिया था कि तुम्हारा पति

विद्याधरों का चक्रवती राजा होगा। फिर अब आपका वह वरदान असत्य कैसे हो गया, मां !"

मलयवती जब बार-बार ऐसा कहकर रुदन कर रही थी, तभी वहां प्रकाश-सा फैला और साक्षात् देवी अम्बिका वहां प्रकट हो गई। मां अम्बिका ने कहा—"बेटी, मेरी बात झूठी नहीं है। लो मैं तुम्हारे पति को पुनः जीवित किए देती हूं।" ऐसा कहकर मां अम्बिका ने अपने कमंडल के अमृत से जीमूतवाहन के अस्थिपंजर को सींच दिया।

जीमूतवाहन जीवित हो उठा, उसके कटे-फटे अंग पुनः जुड़ गए और वह पहले से भी अधिक सुंदर व कांतिमान बन गया। जीमूतवाहन ने तब देवी मां को प्रणाम किया। औरों ने भी उसका अनुसरण किया। तब देवी मां ने उससे कहा—"पुत्र जीमूतवाहन, मैं तुम्हारे देहदान से परम संतुष्ट हूं इसलिए अपने हाथों से मैं तुम्हारा चक्रवर्ती पद पर अभिषेक करती हूं। तुम एक कल्प तक विद्याधरों पर राज्य करोगे।"

यह कहकर देवी ने कलश के जल से जीमूतवाहन का अभिषेक किया। फिर वह अन्तर्ध्यान हो गई।

उसी समय वहां फूलों की वर्षा हुई और आकाश में उपस्थित देवताओं की दुन्दभियां बजने लगीं।

अब गरुड़ ने विनीत होकर जीमूतवाहन से कहा—"हे चक्रवर्ती, मैं आपके अपूर्व पराक्रम से बहुत प्रसन्न हूं। तुमने जो कुछ किया है, वह तीनों लोकों को अचरज में डालने वाला है। इस कृत्य से तुमने अपना नाम ब्रह्मांड की भित्ति पर लिख दिया है। अतः आप मुझे आज्ञा दीजिए और मेरे द्वारा कोई वर प्राप्त कीजिए।"

इस पर जीमूतवाहन ने कहा—"हे पक्षिराज ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो आप वचन दीजिए कि आज से फिर आप सर्पो का भक्षण न करेंगे। साथ ही ये भी कि जिन सर्पों को आप खा चुके हैं और जिनकी हड्डियां ही शेष रही हैं, उन्हें भी पुनः जीवनदान देंगे।" तब गरुड़ ने ऐसा ही वचन दिया। साथ ही मृत सर्पो को भी फिर से जीवित कर दिया।

गौरी की कृपा से सभी विद्याधरों ने जीमूतवाहन के इस अद्‌भुत कृत्य की बात जान ली। कुछ ही देर में वे सभी राजा वहां आ पहुंचे। उन्होंने जीमूतवाहन के चरणों में झुककर प्रणाम किया। जीमूतवाहन ने जब गरुड़ को विदा कर दिया, तब वे उसके संबंधियों और मित्रों सहित उसे हिमालय पर्वत पर ले गए, जहां पार्वती ने अपने हाथों अभिषेक करके उसे चक्रवर्ती का पद दिया।

जीमूतवाहन ने अपने माता-पिता, मित्रावसु, मलयवती तथा घर जाकर लौटे हुए शंखचूड़ के साथ रहते हुए, बहुत दिनों तक चक्रवर्ती सम्राट का पद संभाला। उसका साम्राज्य उन रत्नों से भरपूर था, जिन्हें उसने अपने अलौकिक कार्यो द्वारा अद्‌भुत रूप से प्राप्त किया था।

बेताल ने यह अत्यंत अद्‌भुत कथा सुनाकर राजा विक्रमादित्य से पूछा—"राजन, अब तुम यह बताओ कि उन दोनों में अधिक पराक्रमी शंखचूड़ था या जीमूतवाहन ? यदि तुम जानते हुए भी इस बात का उत्तर न दोगे तो तुम्हारा सिर खंड-खंड हो जाएगा।"

बेताल की यह बात सुनकर शाप के भय से राजा विक्रमादित्य ने मौन त्याग दिया और उद्वेग-रहित होकर कहा—"बेताल, जीमूतवाहन ने जो कुछ किया, उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है क्योंकि उसे अनेक जन्मों की सिद्धियां प्राप्त थीं। सराहने योग्य तो शंखचूड़ ही है। उसके शत्रु को किसी और ने अपना शरीर अर्पित कर दिया था और गरुड़ उसे लेकर दूर चला गया था। फिर भी वह भागा-भागा उनके पीछे वहां गया और उसने हठपूर्वक अपना शरीर प्रस्तुत किया।"

राजा का यह सटीक उत्तर सुनकर बेताल उसके कंधे से उतरकर फिर उसी शिंशपा-वृक्ष की ओर उड़ गया। राजा भी उसे पुनः लाने के लिए उसके पीछे-पीछे दौड़ गया।

सत्रहवां बेताल

उन्मादिनी की कथा

राजा विक्रमादित्य ने एक बार फिर शिंशपा-वृक्ष से बेताल को उतारा। उसे कंधे पर डाला और मौन भाव से अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा। कुछ आगे पहुंचने पर बेताल ने फिर मौन भंग किया और राजा को पुनः अपनी शर्त दोहराकर उसे यह कथा सुनाई।

बहुत पहले गंगा किनारे कनकपुर नाम का एक नगर था। वहां के राजा का नाम था—यशोधन। वह सचमुच अपने नाम को सार्थक करने वाला राजा था। वह परम प्रतापी था और प्रजा उसके राज्य में हर प्रकार से सुखी थी।

उस राजा के नगर में एक श्रेष्ठि (सेठ) रहता था, जिसकी कन्या उन्मादिनी एक परम सुन्दरी थी। जो भी उसकी ओर देखता, वह उसकी मोहिनी-शक्ति से उन्मत्त हो जाता था। उसका सौन्दर्य कामदेव को भी विचलित करने वाला ता। जब सेठ की कन्या युवती हुई, उसके पिता ने राजा यशोधन के पास जाकर निवेदन किया—"प्रभो ! मैं अपनी रत्न स्वरूप कन्या का विवाह करना चाहता हूं किंतु आपसे निवेदन किए बिना उसका विवाह करने का मुझे साहस नहीं होता। सभी रत्नों के स्वामी आप ही हैं अतः या तो मेरी कन्या को पत्नी रूप में स्वीकार करके आप मुझे कृतार्थ करें या अस्वीकार कर दें।"

वणिक की यह बात सुनकर राजा ने उस कन्या के शुभ लक्षणों को देखने के लिए आदरपूर्वक अपने ब्राह्मणों को भेजा। उन ब्राह्मणों ने वहां जाकर ज्योंही उस परम सुंदरी को देखा त्योंही उनका चित चंचल हो गया; किंतु शीघ्र ही धैर्य धारण करके उन लोगों ने सोचा—'यदि राजा इस कन्या से विवाह करेगा तो उसका राज्य अवश्य ही नष्ट हो जाएगा क्योंकि राजा तब इसी के रूप में रमा रहेगा। वह प्रजा के हितों की देखभाल नहीं कर पाएगा। अतः हम लोगों को राजा को यह नहीं बताना चाहिए कि यह कन्या सुलक्षण है।' यही सोचकर वे सब राजा के पास पहुंचे और उन्होंने राजा से कहा—"देव, वह कन्या तो कुलटा है। हमारा परामर्श है कि आप उसके साथ विवाह न करें।"

यह जानकर राजा ने उस सुन्दरी से विवाह करना अस्वीकार कर दिया। तब उस वणिक ने राजा की आज्ञा से अपनी कन्या का विवाह बलधर नाम के राजा के सेनापति से कर दिया। उन्मादिनी नाम से विख्यात वह सुन्दरी सुखपूर्वक अपने पति के पास रहने लगी किंतु उसके मन में एक फांस-सी बनी रही कि राजा ने कुलटा कहकर मेरा त्याग किया है।

एक बार बसन्त ऋतु में राजा यशोधन हाथी पर चढ़कर बसन्त महोत्सव देखने को निकला। राजा के आगमन की घोषणा सुनकर उन्मादिनी ने जो अपने को

परित्यक्त किए जाने के कारण राजा से विद्वेष रखती थी, उसे देखने के लिए अपने भवन की छत पर जाकर उसे देखने लगी। छत पर खड़ी उस सुन्दरी की ओर जैसे ही राजा की नजरें उठीं, उसके मन मे कामाग्नि की ज्वाला सुलग उठी। कामदेव के विजयास्त्र के समान उसकी सुन्दरता को देखते ही वह राजा के हृदय में गहराई से उतर गई। पलक झपकते ही राजा संज्ञाहीन हो गया। तब राजा के सेवक उसे सभालकर उसके महल मे ले गए। राजा द्वारा उस सुन्दरी के बारे में पूछे जाने पर उसके सेवकों ने उसे बता दिया कि यह वही कन्या है जिसके विवाह का प्रस्ताव पहले राजा के साथ करने का हुआ था। लेकिन राजा के अस्वीकार करने पर उसका विवाह उसके सेनापति के साथ कर दिया था।

यह सुनकर राजा को उन ब्राह्मणों पर बहुत क्रोध आया कि जिन्होंने उस कन्या के बारे में गलत कहकर राजा को मिथ्या सूचना दी थी। राजा ने तत्काल उन सभी ब्राह्मणों को देश निकाला दे दिया। तब से वह राजा मन-ही-मन दुखी रहने लगा। लज्जा के कारण यद्यपि उसने अपनी भावना को छिपा रखा था किंतु बाहरी लक्षणों को देखकर उसके विश्वासी जनों द्वारा पूछे जाने पर बड़ी कठिनाई से उसने अपनी पीड़ा का कारण बताया। तब उसके विश्वासी जनों ने कहा—"महाराज ! इसमें इतना दुखी होने की क्या बात है ? वह तो आपके ही अधीन है, फिर आप उसे अपना क्यों नहीं लेते ?" लेकिन धर्मात्मा राजा यशोधन ने उनकी यह बात स्वीकार नहीं की।

सेनापति बलधर राजा का भक्त था। जब उसे यह बात मालूम हुई तो वह राजा के पास पहुंचा और उसके चरणों में झुककर बोला—"देव, आपके दास की वह स्त्री आपकी दासी ही है। वह परस्त्री नहीं है। मैं स्वयं ही उसे आपको भेंट करता हूं। आप उसे स्वीकार कर लें अथवा मै उसे देव-मंदिर में छोड़ देता हूं। जब वह देवकुल की स्त्री हो जाएगी, तब वहां से उसे ग्रहण करने में आपको दोष नहीं लगेगा।"

अपने ही सेनापति ने जब राजा से ऐसी प्रार्थना की तो आंतरिक क्रोध से उसने उसे उत्तर दिया— "राजा होकर मैं ऐसा अधर्म कैसे करूंगा ? यदि मैं ही मर्यादा का उल्लंघन करूंगा तो कौन अपने कर्त्तव्य मार्ग पर स्थिर रहेगा ? मेरे भक्त होकर भी तुम मुझे ऐसे पाप में क्यों प्रवृत्त करते हो जिसमें क्षणिक सुख तो है, पर जो परलोक में महादुख का कारण है। यदि तुम अपनी धर्मपत्नी का त्याग करोगे, तो मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूंगा क्योंकि मेरे जैसा कौन राजा ऐसा अधर्म स्वीकार कर सकता है ? अब तो मृत्यु ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।"

अनन्तर, नगर और गांव के लोगों ने मिलकर राजा से यही प्रार्थना की किंतु दृढ़-निश्चयी राजा ने उनकी बात नहीं मानी। राजा का शरीर धीरे-धीरे उसी काम-ज्वर के ताप से क्षीण होता चला गया और अंत में उसकी मृत्यु हो गई। अपने स्वामी की मृत्यु से खिन्न होकर उसके सेनापति बलधर ने भी अग्नि में प्रवेश करके अपने प्राण त्याग दिए। सच है, भक्तों की चेष्टाओं को नहीं जाना जा सकता।
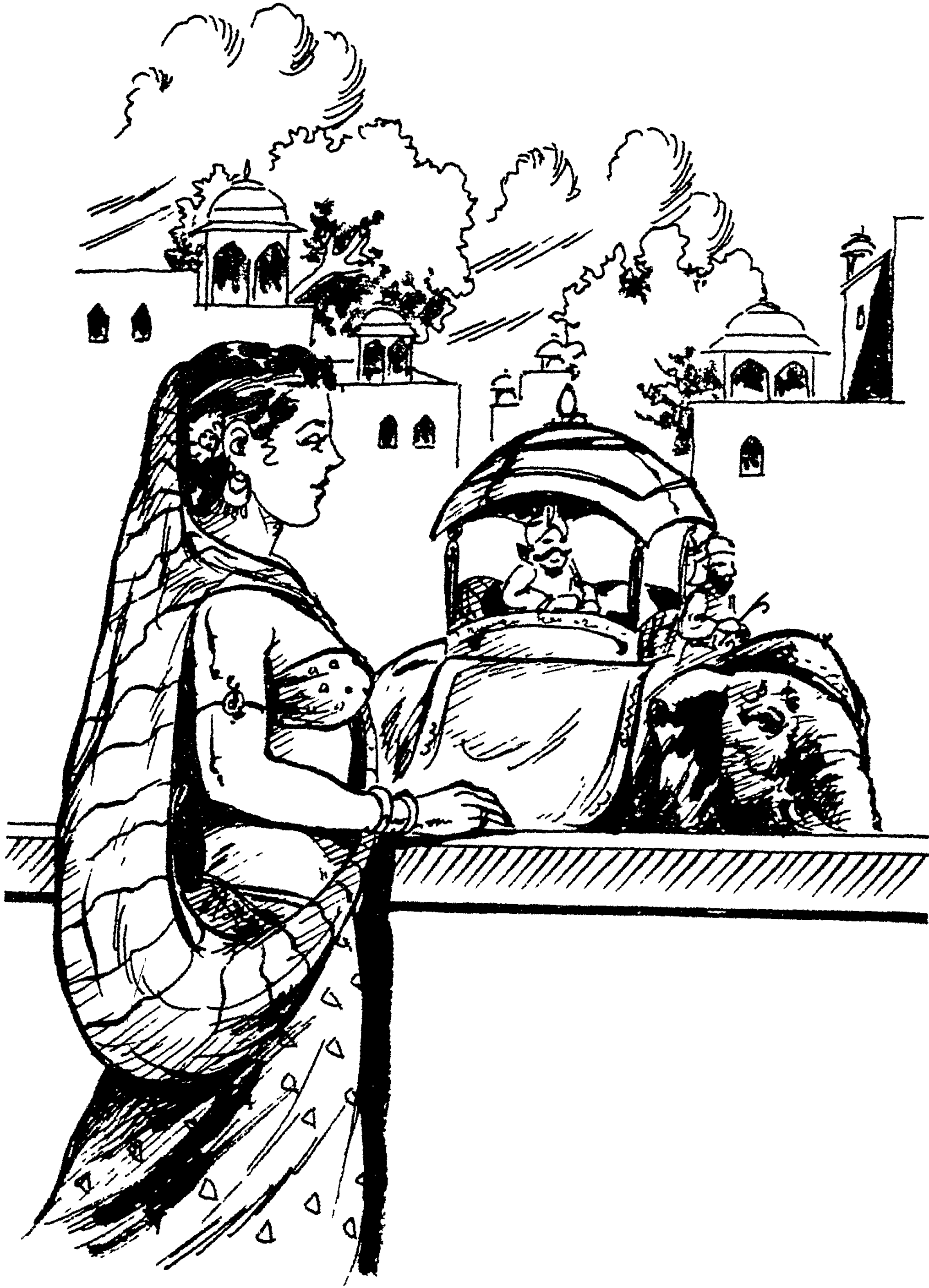
राजा विक्रमादित्य के कंधे पर लदे बेताल ने यह कथा सुनाकर पूछा—"राजन ! अब तुम यह बतलाओ कि उस राजा और सेनापति में से, सेनापति बलधर क्यों अधिक दृढ़चरित्र नहीं था ? उसकी स्त्री तो अलौकिक सुन्दरी थी। उसने बहुत समय तक उसके साथ सुख भोगकर उसका स्वाद जाना था, फिर भी वह वैसी स्त्री को राजा को सौंपने को तत्पर हो गया ता और फिर, राजा की मृत्यु के बाद उसने स्वयं भी अपना शरीर अग्नि में होम करके अपने प्राण त्याग दिए थे। लेकिन, राजा ने उसकी उस पत्नी का त्याग किया था, जिसके भोग-रस का उसने आस्वादन भी नहीं किया था। भला ऐसा क्यों हुआ था ? इस प्रश्न का उत्तर जानते हुए भी यदि तुम मौन रहोगे तो तुम्हें मेरा वही शाप लगेगा।"

राजा हंसकर बोला—"बेताल ! कहते तो तुम ठीक ही हो लेकिन इसमें अचरज की क्या बात है ? सेनापति कुलीन वंश का था, उसने स्वामी की भक्ति में जो किया, ठीक ही किया क्योंकि सेवक का तो कर्त्तव्य ही है कि वह प्राण देकर भी अपने स्वामी की रक्षा करे लेकिन राजा तो मदमत्त हाथी की तरह निरंकुश होते हैं। वे जब विषय-लोलुप होते हैं तब धर्म और मर्यादाओं की सभी श्रृंखलाएं तोड़ देते हैं। निरंकुश हृदय वाले राजाओं का विवेक अभिषेक के जल से उसी प्रकार बह जाता है, जैसे बाढ़ के पानी में सब कुछ बह जाता है। डुलते हुए चंवर की वायु जैसे रजकण, मच्छर और मक्खियों को दूर उड़ा देती है, वैसे ही वृद्धों के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के अर्थ तक को दूर भगा देती है। उसका छत्र जैसे धूप को रोकता है, वैसे ही सत्य को भी ढक देता है। वैभव की आंधी मैं चौंधयाई हुई उसकी आंखें उचित मार्ग नहीं देख पातीं। नहुष आदि राजा जगतविजयी थे, फिर भी जब उनका चित्त काम-मोहित हो गया, तब उन्हें अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। यह राजा भी परम प्रतापी था, फिर भी वह लक्ष्मी समान चंचला और सुन्दरता में अप्सराओं को भी मात करने वाली उन्मादिनी के द्वारा विमोहित नहीं हुआ। उस धर्मात्मा और धीर राजा ने अपने प्राण त्याग दिए किंतु कुमार्ग पर पैर नहीं रखे। इसी से तो मैं उसे दृढ़चरित्र वाला मानता हूं।"

यह उत्तर सुनकर बेताल ने कहा—"तुम्हारा उत्तर बिल्कुल ठीक है राजा विक्रमादित्य। किसी के व्यक्तित्व की पहचान उसके चरित्र से ही होती है। किंतु उत्तर देने के चक्कर में तुम अपना मौन रहने का संकल्प भूल गए। तुम भूले और मैं आजाद हो गया, इसलिए मैं चला अपने स्थान पर।" कहते हुए बेताल उसके कंधे से सरककर पुनः अपने स्थान को उड़ गया। राजा ने भी उसी प्रकार उसे फिर प्राप्त करने के लिए शीघ्रतापूर्वक उसका अनुसरण किया। महान पुरुष जब कोई कार्य आरंभ कर देते हैं, तब वह काम, चाहे जितना कठिन क्यों न हो, उसे पूर्ण किए बिना विश्राम नहीं करते।

❑❑❑

अट्ठारहवां बेताल

ब्राह्मणकुमार की कथा

उस भयानक रात में राजा विक्रमादित्य जब उस शिंशपा-वृक्ष के पास पहुंचा तो वहां का बदला दृश्य देखकर कुछ विस्मित-सा हो गया। श्मशान का समूचा क्षेत्र श्मशान की चिता की अग्नि और मांसभक्षी भूत-प्रेतों से भरा हुआ था, जिनकी जीभें आग की चंचल लपटों के समान जान पड़ती थीं।

वहां उसने बहुत से प्रेत-शरीरों को उल्टे लटका देखा, जो देखने में एक जैसे प्रतीत होते थे। यह देखकर भी राजा भयभीत न हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा—'अरे ! यह क्या बात है ? क्या वह मायावी बेताल इस प्रकार मेरा समय नष्ट कर रहा है ? समझ में नहीं आता इन बहुत-से शवों में से मैं किसको ले जाऊं ? यदि मेरा काम हुए बिना ही यह रात बीत गई तो फिर मरने के अतिरिक्त मेरे पास कोई अन्य उपाय नहीं बचेगा। तब मैं अग्नि में प्रवेश करके अपने प्राण दे दूंगा किंतु उपहास का पात्र कदापि नहीं बनूंगा।'

राजा जब ऐसा सोच रहा था, तब उसका यह निश्चय जानकर बेताल उसकी दृढ़ता से संतुष्ट हुआ और उसने अपनी माया समेट ली। तब राजा ने एक ही मनुष्य शरीर में बेताल को देखा। उसे वृक्ष से उतारकर राजा ने अपने कंधे पर डाला और वहां से प्रस्थान किया। चलते हुए राजा से वह बेताल फिर बोला—"राजन, मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य हो रहा है कि न तो तुम ऊबते ही हो और न अपनी जिद छोड़ते हो। उस योगी के लिए तुम निश्चय ही बहुत परिश्रम कर रहे हो। सुनो, तुम्हारे श्रम की थकान दूर करने के लिए मैं तुम्हें फिर एक कथा सुनाता हूं।"

तब बेताल ने यह कथा सुनाई।

आर्यावर्त्त में उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। नागों की भूमि भोगवती और देवों की भूमि अमरावती के बाद श्रेष्ठता में तीसरा स्थान उसी का है। माता गौरी ने कठिन तपस्या के बाद जब शिव का वरण किया था, तब इस नगरी के असाधारण गुणों से आकृष्ट होकर भगवान शिव ने इसी नगरी को अपना निवास स्थान बनाया था। पुण्य की अधिकता से प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के सुख-भोगों से वह नगरी भरी हुई है।

उस नगरी में चंद्रप्रभ नाम का एक राजा राज करता था। उसका मंत्री एक ब्राह्मण था, जिसका नाम था—देवस्वामी। देवस्वामी बहुत धनवान था, उसने बहुत से यज्ञ भी किए थे।

समय पाकर उसे चंद्रस्वामी नाम का एक पुत्र पैदा हुआ। यद्यपि उसने विद्याओं का अध्ययन किया था, फिर भी जवानी में उसे जुआ खेलने का व्यसन पैदा हो गया।

एक बार चद्रस्वामी, जुआ खेलने के लिए किसी बड़े जुआखाने में गया। वहां एक से बढकर एक जुआरी पहले से ही मौजूद थे। चंद्रस्वामी उनके साथ जुआ खेलने लगा। दुर्भाग्य से वह अपना सारा धन हार गया। स्थिति यहां तक पहुंच गई कि वह अपने वस्त्र तथा दूसरो से मांगा हुआ धन भी हार गया। मांगने पर जब वह उस रकम को नही चुका सका तो उस जुआखाने के मालिक ने उसे डंडे से खूब पीटा। डडे की चोट से चंद्रस्वामी का सारा शरीर घायल हो गया। कई दिन तक वह उसी जगह मुर्दे के समान घायल पड़ा रहा। यह देखकर उस जुआखाने के मालिक ने अपने जुआरियों से कहा—"सुनो मित्रों ! तीन दिन हो गए, यह तो आंखें ही नहीं खोल रहा, पत्थर के समान हो गया है। तुम इसे मार डालो और इसका शव किसी अंधे कुएं मे फेक आओ। तुम लोगों को इसके लिए मैं उचित मुआवजा दे दूंगा।"

उसके ऐसा कहने पर दूसरे जुआरी चंद्रस्वामी को वहां से उठाकर ले गए और कुएं की खोज में दूर एक वन में जा पहुंचे। वहां एक बूढ़े जुआरी ने दूसरों से कहा—"यह तो लगभग मर ही चुका है, फिर इसे कुएं में फेंकने से क्या लाभ ? बेहतर है हम इसे यहीं छोड़ दें और उस द्यूतशाला (जुआघर) के मालिक से जाकर यह कह दें कि हम उसे कुएं में डाल आए हैं।" सबने उसकी बात का समर्थन किया और वे चंद्रस्वामी को छोड़कर चले गए।

चंद्रस्वामी को होश आया तो उसने स्वयं को एक निर्जन वन में पाया। वहां एक शिवालय बना हुआ था। तब वह लड़खड़ाता-सा उठा और थके-थके कदमों से उस मदिर में चला गया। अंदर पहुंचकर जब उसकी हालत थोड़ी और सुधरी तो वह दुखी होकर सोचने लगा—'कैसे दुख की बात कि मुझे उन जुआरियों ने धोखे से लूट लिया। मैं नंगा हूं, घायल हूं, धूल से मेरा शरीर भरा हुआ है। ऐसी हालत में मैं जाऊं भी तो कहां जाऊं ? मेरे पिता, मेरे संबंधी और मेरे हितैषी मित्र मुझे देखकर क्या कहेंगे ? इसलिए मैं अभी तो यहीं ठहरता हूं, रात को बाहर निकलकर देखूंगा कि भूख मिटाने के लिए खाने-पीने का क्या उपाय कर सकता हूं।' थका हुआ और वस्त्ररहित चंद्रस्वामी ऐसा सोच ही रहा था कि तभी सूर्यास्त हो गया।

इसी बीच एक महाव्रती तपस्वी वहां आया। उसके समूचे शरीर में विभूति (भभूत) लगी हुई थी और जटा और शूल धारण करने के कारण वह दूसरे शिव के समान जान पड़ता था। उस तपस्वी ने जब चंद्रस्वामी से उसका परिचय पूछा तो चंद्रस्वामी ने उसे वह सारा वृत्तांत कह सुनाया जिसके कारण उसकी यह दुर्दशा हुई थी। यह सुनकर तपस्वी ने चंद्रस्वामी से दयापूर्वक कहा—"तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है वत्स। तुम मेरे अतिथि हो, यह मेरा आश्रम है। उठो और पहले स्नान करो, तत्पश्चात् मैं जो कुछ भिक्षा में मांगकर लाया हूं, उसमें से कुछ हिस्सा तुम खा लो।"

उस व्रतधारी के ऐसा कहने पर चंद्रस्वामी ने उससे कहा—"भगवन, मैं ब्राह्मण हूं। आपकी भीख में हिस्सा कैसे बांटकर खाऊंगा ?"

यह सुनकर अतिथि का आदर करने वाला वह सिद्ध व्रतधारी अपनी मटी (छोटी कुटिया) में घुस गया। वहां उसने इष्ट सिद्धि देने वाली अपनी विद्या का स्मरण किया। याद करते ही विद्या प्रकट हुई और जब उसने पूछा कि—"मैं क्या करूं ?" तो उस तपस्वी ने आज्ञा दी कि—"मेरे इस अतिथि का आतिथ्य-सत्कार करो।"

विद्या ने कहा—"ऐसा ही होगा।" कहकर उसने एक स्वर्ण नगर उत्पन्न कर दिया, जिसमें बगीचा भी था और सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां भी थीं।

उस नगर से निकलकर सुन्दरियां विस्मित चंद्रस्वामी के पास आई और बोली—"भद्र उठो, स्नान-भोजन करो और अपनी थकावट दूर करो।"

यह कहकर वे उसे अंदर ले गई। स्नान कराकर उन्होंने उसके शरीर पर अंगराग लगाया। उनके द्वारा दिए गए उत्तम वस्त्र पहनने के बाद वे उसे एक दूसरे सुन्दर भवन में ले गई।

उस भवन के अंदर उसने एक सर्वांग सुन्दर युवती को देखा, जो उन सबकी प्रधान जान पड़ती थी और जिसे मानो विधाता ने बड़ी कुशलता से अपने हाथो स्वयं गढ़ा था। उसने उत्कंठापूर्वक चंद्रस्वामी को अपने आसन के आधे हिस्से पर बैठाया। फिर उसके साथ ही उसने दिव्य भोजन किया। भोजन के उपरान्त चंद्रस्वामी ने स्वादिष्ट पके हुए फल और फिर ताम्बूल (पान) खाया। फिर उसके साथ नरम बिस्तर पर सोकर चरम सुख प्राप्त किया।

सवेरे जब चंद्रस्वामी जागा तो वहां केवल उसे शिवालय ही दिखाई दिया। वहां न तो वह दिव्य स्त्री थी, न नगर था और न वे दासियां ही थीं।

तभी मठी के भीतर से हंसता हुआ वह तपस्वी निकला। उसके यह पूछने पर कि—"रात कैसी कटी ?" उदास चित्त वाले चंद्रस्वामी ने उससे कहा—"भगवन, आपकी कृपा से रात तो मैंने बहुत सुखपूर्वक बिताई लेकिन अब उस दिव्य स्त्री के बिना, मेरे प्राण निकले जा रहे हैं।" यह सुनकर उस दयालु तपस्वी ने मुस्कराते हुए चंद्रस्वामी से कहा—"तुम यहीं ठहरो वत्स। रात को तुम्हें फिर वही सुख प्राप्त होगा।" तपस्वी के कहने पर चंद्रस्वामी वहीं ठहरकर तपस्वी की विद्या के प्रताप से वह हर रात सुख भोगने लगा।

धीरे-धीरे इस विद्या का प्रभाव जानकर देव प्रेरणा से एक दिन चंद्रस्वामी ने उस तपस्वी को प्रसन्न करके कहा—"भगवन ! मुझ शरणागत पर यदि सचमुच आपकी कृपा है तो मुझे यह विद्या सिखा दीजिए, जिसका ऐसा प्रभाव है।"

चंद्रस्वामी द्वारा आग्रहपूर्वक ऐसा कहने पर तपस्वी उससे बोला—"वत्स यह विद्या तुम्हारे लिए असाध्य है क्योंकि इसकी साधना जल के अंदर की जाती है। जो साधक वहां इसकी साधना करता है, उसको भरमाने के लिए कई मायाजाल उत्पन्न होते है जिसके कारण वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। वहां उसे ऐसा भ्रम होता है कि उसका फिर से जन्म हुआ है। तब वह अपने को बालक, फिर युवक, फिर विवाहित मानता है

और उसे जान पड़ता है, जैसे उसके यहां पुत्र उत्पन्न हुआ हो। तब वह झूठे मोह में पड़ जाता है कि यह मेरा मित्र है और यह शत्रु। उसे न तो इस जन्म का स्मरण रहता है, न ही इसका कि उसकी क्रियाएं विद्या की साधना में लगी हुई हैं। जो लोग चौबीस वर्ष की आयु तक गुरु के द्वारा विद्या पढ़कर ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन वीर पुरुषों को इस जन्म का स्मरण रहता है और वे जानते हैं कि यह सब माया का खिलवाड़ है और विद्या की सिद्धि के बाद जल से निकलकर परम ज्ञान का दर्शन करते है।''

तपस्वी ने आगे बताया—''जिस शिष्य को यह विद्या दी जाती है, उसे यदि यह सिद्धि नहीं मिलती तो अनुपयुक्त पात्र को शिक्षा देने के कारण उसके गुरु की भी विद्या नष्ट हो जाती है। मेरी सिद्धी से ही तुम्हें उसके सब फल प्राप्त हो रहे हैं। अतः इसके लिए तुम आग्रह क्यों कर रहे हो ? कहीं ऐसा न हो कि इससे मेरी सिद्धि भी नष्ट हो जाए और जिसके द्वारा तुम ये सुख-भोग प्राप्त कर रहे हो, तुम्हें उससे भी वंचित होना पड़े।'' तपस्वी के ऐसा कहने पर चंद्रस्वामी ने हठपूर्वक कहा—''हे महात्मन ! आप चिंता न करें, मैं सब कुछ सीख लूंगा।''

इसके बाद तपस्वी ने चंद्रस्वामी को विद्या सिखाना स्वीकार कर लिया। सज्जन पुरुष आश्रितों के अनुरोध पर भला क्या नहीं करते ? तब वह नदी-तट पर ले जाकर चंद्रस्वामी से बोला—''वत्स, इस विद्या (मंत्र) का जाप रते हुए जब तुम माया के दृश्य देखो, तो सावधान रहना और मेरे मंत्र से सावधान रहकर माया की अग्नि में प्रवेश करना। मैं तब तक तुम्हारे लिए नदी के इस तट पर रुका रहूंगा।'' यह कहकर उस व्रतधारी ने आचमन करके चंद्रस्वामी को विधिपूर्वक वह विद्या सिखाई।

अनन्तर, नदी के तट पर स्थित अपने गुरु को चंद्रस्वामी ने सिर झुकाकर प्रणाम किया और शीघ्रतापूर्वक नदी में उतर गया। जल के भीतर जाकर वह उस मंत्र का जाप करने लगा, तब माया के मिथ्या प्रभाव से मोहित होकर सहसा-ही वह अपने इस जन्म की सारी बातें भूल गया। उसने देखा कि वह स्वयं किसी दूसरी नगरी में किसी अन्य ब्राह्मण का पुत्र होकर उत्पन्न हुआ। अनन्तर, वह धीरे-धीरे किशोर हुआ। उसका यज्ञोपवीत हुआ, उसने विद्याएं पढ़ीं, विवाह किया और उसके सुख-दुख में पूरी तरह लिप्त रहकर सन्तान लाभ किया। वहां पुत्र स्नेह के कारण स्वीकार किए हुए अनेक प्रकार के कार्य करता और माता-पिता तथा कुटंबियों की प्रीति से बंधा वह रहने लगा। इस प्रकार वह झूठे जन्मांतर का अनुभव कर रहा था, तभी समय जानकर उसके गुरु उस तपस्वी ने चेतना उत्पन्न करने वाली अपनी विद्या का प्रयोग किया।

उस विद्या के प्रयोग से शीघ्र ही उसने (मायाजाल को भेदकर) चेतना प्राप्त की। उसे अपने गुरु का स्मरण हो आया और उसने मायाजाल को भी पहचान लिया। दिव्य और असाध्य फल की प्राप्ति के लिए जब वह अग्नि में प्रवेश करने को उद्यत हुआ, तब वृद्ध और विश्वासी उसके गुरु एवं उसके कुटंबीजन उसे ऐसा करने से

रोकने लगे। उन लोगों के बहुत समझाने-बुझाने पर भी दिव्य सुख की लालसा से वह अपने कुटुंबियों सहित नदी के उस तट पर गया जहां चिता बनी हुई थी। वहां उसने अपने बूढ़े माता-पिता तथा पत्नी को मरने के लिए उद्यत देखा। अपने बच्चों को भी रोता देखकर वह मोह में पड़ गया। वह सोचने लगा—'मैं यदि अग्नि में प्रवेश करूंगा तो मेरे ये सभी संबंधी मर जाएंगे। मैं यह भी नहीं जानता कि गुरु की बात सच्ची भी है या नहीं। तब मै क्या करूं—अग्नि में प्रवेश करूं या नहीं ? किंतु अब तक तो सारी बातें गुरु के कहने के अनुसार ही हुई हैं, अतः यही बात झूठ कैसे होगी ? इसलिए मुझे चाहिए कि मैं प्रसन्नतापूर्वक अग्नि में प्रवेश करूं ?' मन-ही-मन ऐसा सोचते हुए उस ब्राह्मण चंद्रस्वामी ने अग्नि ने प्रवेश किया।

अग्नि का स्पर्श जब उसे बर्फ के समान ठंडा जान पड़ा, तब उसे आश्चर्य हुआ। तब तक माया का प्रभाव जाता रहा। नदी से निकलकर उसने अपने गुरु को देखा और उनके चरणों में प्रणाम किया, पूछने पर आरंभ से लेकर अग्नि की शीतलता तक की सारी बातें उन्हें बता दी। तब उसके गुरु ने कहा—"वत्स, मुझे इस बात की शंका हो रही है कि कहीं तुमसे कुछ भूल हो गई है, नहीं तो अग्नि तुम्हारे लिए शीतल कैसे हो गई ?"

गुरु के ऐसा कहने पर चंद्रस्वामी ने पूछा—"भगवन, मैंने कहीं कोई भूल तो नहीं की ?"

तब इस रहस्य को जानने की इच्छा से उसके गुरु ने अपनी विद्या का स्मरण किया। वह विद्या न तो उसके सम्मुख ही प्रकट हुई और न उसके शिष्य के सम्मुख ही। तब वे दोनों ही अपनी विद्या को नष्ट हुआ जानकर दुखी होकर वहां से चले गए।

यह कथा सुनाकर बेताल ने राजा विक्रमादित्य को पहली कही शपथ का स्मरण कराकर उससे पूछा—"राजन, मेरा संशय दूर करो और बतलाओ कि बताई हुई सारी क्रियाएं करने के बाद भी उन दोनों की विद्या नष्ट क्यों हो गई ?"

बेताल की बात सुनकर उस वीर राजा ने उत्तर दिया—"योगेश्वर ! यह तो मैं जानता हूं कि इस प्रकार आप केवल समय ही व्यतीत कर रहे हैं, फिर भी मैं बताता हूं। जब तक मनुष्य का मन द्विविधा से रहित, धैर्ययुक्त, निर्मल और सुदृढ़ नहीं होता, तब तक केवल ठीक तरह से कोई दुष्कर कार्य करने से ही उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। वह मंदमति ब्राह्मण युवक चंद्रस्वामी काम करके भी द्विविधा में पड़ गया था, इसी से उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी और अपात्र को देने के कारण गुरु की भी सिद्धि जाती रही।"

राजा के ऐसा कहने पर बेताल पुन; उसके कंदे से उतरकर अदृश्य रूप से अपनी जगह पर चला गया। तत्पश्चात् राजा भी उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे गया।

❑❑❑

उन्नीसवां बेताल

चंद्रस्वामी की कथा

राजा विक्रमादित्य ने शिंशपा-वृक्ष से फिर बेताल को उतारा और उसे अपने कंधे पर डालकर चल पड़ा। चलते हुए बेताल ने पुनः कहा—"राजन ! सुनो, मैं तुम्हें इस बार यह मनोहर कथा सुनाता हूं।"

बहुत पहले वक्रोलस नाम का एक नगर था। जहां इन्द्र के समान एक राजा राज्य करता था। उसका नाम था—सूर्यप्रभ। राजा सूर्यप्रभ हर प्रकार से सुखी था किंतु उसे एक ही दुख था कि बहुत-सी रानियों के होते हुए भी उसे कोई संतान नहीं हुई थी। उस समय ताम्रलिप्ति नाम की एक महानगरी में धनपाल नाम का एक महाजन (सेठ) रहता था, जो उस क्षेत्र के सभी धनवानों में अग्रणी था। उसकी इकलौती पुत्री का नाम धनवती था। वह इतनी सुन्दर थी कि उसे देखकर किसी अप्सरा का भ्रम होता था। जब वह कन्या युवती हुई, तब महाजन की मृत्यु हो गई। राजा का सहारा पाकर महाजन के संबंधियों ने उसका सारा धन हड़प लिया। महाजन की पत्नी हिरण्यवती किसी प्रकार अपने रत्न एवं आभूषणों को छिपाकर अपनी पुत्री सहित, अपने संबंधियों के डर से वहां से भाग निकली। उसके हृदय में दुख का अंधेरा घिरा हुआ था। अपनी पुत्री का हाथ थामे वह बड़ी कठिनाई से नगर से बाहर निकली।

संयोगवश, अंधकार में जाती हुई हिरण्यवती ने दिख न पाने के कारण सूली पर चढ़ाए गए एक चोर को अपने कंधे से धक्का दे दिया। वह चोर जीवित था। उसके कंधे के धक्के से वह तिलमिला उठा और कराहकर कह उठा—"हाय ! मेरे कटे हुए जख्मों पर कौन नमक छिड़क रहा है ?" इस पर उस महाजन की स्त्री ने क्षमायाचना करते हुए उस चोर से पूछा—"श्रीमंत, आप कौन हैं ?"

तब उस चोर ने उत्तर दिया—"मैं एक कुख्यात चोर हूं। चोरी करने एक कारण मुझे सूली पर चढ़ाए जाने का दंड मिला है। लेकिन आर्या, आप बतलाएं कि आप कौन हैं और इस अंधकार में भटकती हुई कहां जा रही हैं ?"

चोर के पूछने पर महाजन की पत्नी उसे अपना परिचय देने लगी, तभी चंद्रमा निकल आया और उसके प्रकाश में सारा क्षेत्र आलोकित हो गया। तब चोर ने देख लिया कि उस स्त्री के साथ चंद्रमा के मुख के समान एक कन्या भी वहां मौजूद थी। यह देखकर उसने उसकी माता से प्रार्थना की—"आर्ये, तुम मेरी एक प्रार्थना सुनो। मैं तुम्हें एक हजार स्वर्णमुद्राएं दूंगा। तुम अपनी कन्या मुझे दे दो।" यह सुनकर धनवती की माता हंसी और चोर से पूछा—"तुम तो मरने वाले हो। सूली पर टंगे

हुए तुम्हें मरने में विलम्ब नहीं होगा। फिर क्यों मेरी कन्या का हाथ मांगना चाहते हो?"

इस पर उस चोर ने कहा—"यह सत्य है कि मेरी आयु समाप्त हो गई है, पर मैं पुत्रहीन हूं। शास्त्रों में लिखा है कि पुत्रहीन व्यक्ति की सद्गति नहीं होती। अतः यह यदि मेरी आज्ञा से किसी और के द्वारा पुत्र पैदा करेगी तो वह मेरा क्षेत्रज पुत्र होगा। इसी से मैं तुमसे यह निवेदन करता हूं कि मेरा मनोरथ पूरा करो।"

चोर की बात सुनकर महाजन की पत्नी के मन में लोभ पैदा हो गया। उसने चोर की बात स्वीकार कर ली।

तब वह महाजन की पत्नी कहीं से जल ले आई और यह कहकर उसने उस जल को चोर के हाथों पर डाल दिया कि—'मैं अपनी यह कुंवारी कन्या तुम्हें देती हूं।'

तब उस चोर ने उस कन्या को अपना क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करने का आदेश दिया और अपनी सास से बोला—"सामने उस बरगद के विशाल वृक्ष को देखो। उस वृक्ष की जड़ के समीप जमीन खोदो तो वहां जमीन में दबी तुम्हें कुछ स्वर्णमुद्राएं मिलेंगी। वह स्वर्णमुद्राएं निकाल लो और मेरी मृत्यु के बाद विधिपूर्वक मेरा दाह-संस्कार करा देना। तत्पश्चात् मेरी अस्थियों का किसी तीर्थस्थान में विसर्जन करने के पश्चात् अपनी कन्या सहित वक्रोलस नगर में चली आना। वहां राजा सूर्यप्रभ के शासन में वहां के लोग सुखपूर्वक रहते हैं। मुझे आशा है तुम्हें वहां रहने के लिए किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आएगी।" यह कहकर उस प्यासे चोर ने हिरण्यवती द्वारा लाया हुआ जल पीया और सूली पर चढ़ाए जाने की पीड़ा के कारण अपने प्राण त्याग दिए।

हिरण्यवती ने चोर के निर्देशानुसार बरगद के वृक्ष के पास जाकर स्वर्णमुद्राएं निकालीं और किसी गुप्त मार्ग से अपने पति के किसी मित्र के यहां चली गई। वहां रहकर उसने युक्तिपूर्वक उस चोर की दाह-क्रिया करवाई और उसकी अस्थियों को किसी तीर्थ में प्रवाहित कराने आदि की भी व्यवस्था कर दी।

अगले दिन वह उस छिपे धन को लेकर अपनी कन्या के साथ वहां से निकल पड़ी और चलती-चलती क्रमशः वक्रोलस नगर में पहुंच गई। वहां उसने वसुदत्त नाम के किसी श्रेष्ठ वणिक से एक मकान खरीद लिया और पुत्री सहित उस मकान में रहने लगी। उन्हीं दिनों उस नगर में विष्णुस्वामी नाम के एक अध्यापक रहते थे। मनःस्वामी नाम का उनका एक ब्राह्मण-शिष्य बहुत रूपवान था।

यद्यपि वह ब्राह्मण-शिष्य उत्तम कुल का था तथापि यौवन के वशीभूत होकर हंसाबलि नाम की एक विलासिनी के प्रेम में फंस गया था। हंसाबलि शुल्क के रूप में पांच-सौ स्वर्णमुद्राएं मांगती थी और इतना धन उसके पास नहीं था इसलिए वह उसे पाने को दिन-रात बेचैन रहता था।

एक दिन उस महाजन की कन्या धनवती ने अपने मकान की छत पर से उस

सुन्दर युवक को देखा। धनवती उसकी सुन्दरता पर मोहित हो गई। उसे अपने चोर पति की आज्ञा का स्मरण हो आया। तब उसने अपनी माता को बुलाया और उससे कहा—"मा, नीचे खडे उस ब्राह्मण युवक के रूप और यौवन को तो देखो। उसके नेत्र कितने सुन्दर हैं। इस वेश मे तो वह साक्षात् कामदेव जैसा दिखाई दे रहा है।" यह सुनकर उसकी माता हिरण्यवती समझ गई कि धनवती को यह युवक पसंद आ गया है। तब उसने मन में सोचा—'पति की आज्ञा से पुत्र-प्राप्ति के लिए मेरी पुत्री को किसी पुरुष का वरण तो करना ही है, फिर क्यों न इसी युवक से अनुरोध किया जाए ?' यह सोचकर उसने इच्छित संदेश के साथ भेद जानने वाली एक दासी को भेजा कि वह उस ब्राह्मण युवक को यहां ले आए।

उस दासी ने जाकर उस ब्राह्मण युवक को एकांत में बुलाया और सारी बातें कहीं। उन्हें सुनकर वह व्यसनी ब्राह्मण युवक बोला—"यदि मुझे हंसावली के लिए पाच सौ सोने की मोहरें दे, तो मैं एक रात के लिए वहां जा सकता हूं।" उसके ऐसा कहने पर दासी ने यह बात महाजन की स्त्री से कही। महाजन की स्त्री ने उसी के हाथ उतना धन भेज दिया। वह धन लेकर मनःस्वामी उस दासी के साथ महाजन की कन्या उस धनवती के महल में गया, जो एक रात्रि के लिए उसे अर्पित कर दी गई थी।

वहां मनःस्वामी ने अत्यंत उत्कंठित उस कन्या को देखा, जिसने धरती को विभूषित कर रखा था। चकोर जिस प्रकार चांद को देखता है, वैसे ही वह धनवती को देखकर प्रसन्न हुआ। उसने धनवती के साथ समागम करते हुए वह रात बिताई। सवेरा होने पर जिस प्रकार से वह वहां आया ता, उसी प्रकार वहां से निकलकर चला गया। समय पाकर धनवती गर्भवती हुई और उसने मनःस्वामी के अंश-रूप एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। बालक के लक्षण उसके उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे रहे थे। पुत्र के रूप में उस बालक को पाकर धनवती बहुत संतुष्ट हुई। रात में भगवान शिव ने स्वप्न में उन्हें दर्शन देकर आदेश दिया कि—"सहस्र स्वर्णमुद्राओं के साथ, पालने में लेटे हुए इस बालक को सवेरे राजा सूर्यप्रभ के दरवाजे पर छोड़ आओ। इससे इसका और तुम्हारा दोनों का कल्याण होगा।" शिवजी के ऐसा कहने पर वह वणिकपुत्री और उसकी माता जागकर आपस में विचार-विमर्श करने लगी और भगवान की बातों पर विश्वास पर वे राजा सूर्यप्रभ के सिहद्वार पर उस बालक को स्वर्णमुद्राओं सहित छोड़ आई। उधर भगवान शिव ने पुत्र की चिंता में सदा दुखी रहने वाले राजा सूर्यप्रभ को भी स्वप्न में आदेश दिया—"राजन ! उठो, तुम्हारे सिंहद्वार पर किसी ने पालने में लेटे हुए एक सुंदर बालक को रख दिया है। उसे स्वीकार करो और उसका पुत्रवत् पालन करो।"

राजा की नींद खुली और उसने सिंहद्वार पर जाकर देखा तो उसे भगवान शिव के कथन की सत्यता का पता चला। बालक के साथ धनराशि भी रखी हुई थी और

उसके हाथ-पैरों में छत्र, ध्वज आदि के चिन्हों की रेखाएं थीं। वह बालक बहुत ही सुंदर आकृति वाला था।

"भगवान शिव ने मेरे योग्य पुत्र ही मुझे दिया है।" ऐसा कहते हुए राजा ने उस बालक को अपने हाथों में उठा लिया और महल में चला गया। तब राजा ने पुत्र प्राप्ति के उपलक्ष्य में इतना धन गरीबों में लुटाया कि नगर में कोई दरिद्र ही न रहा। नृत्य-वाद्य आदि के साथ राजा ने विधिपूर्वक बालक को अपनाया और उसका नाम रखा—चंद्रप्रभ। राजमहल में हर प्रकार के सुखों के साथ धीरे-धीरे राजकुमार बड़ा होने लगा। जब वह युवक हुआ तो राज ने उसे राज्यभार सौंप दिया और वह तीर्थाटन के लिए वाराणसी चला गया।

नीति जानने वाला उसका पुत्र जब अपनी प्रजा पर धर्मपूर्वक शासन चला रहा था, तभी सूचना मिली कि वाराणसी में उसके पिता का देहान्त हो गया है। पिता की मृत्यु का संवाद पाकर राजा चंद्रप्रभ ने उसके लिए शोक किया तथा उसके लिए श्राद्ध आदि किए। फिर वह धर्मात्मा अपने मंत्रियों से बोला—"पिताजी से भला मैं किस प्रकार उऋण हो सकता हूं। फिर भी मैं अपने हाथों उनका एक ऋण चुकाऊंगा। मैं उनकी अस्थियां ले जाकर विधिपूर्वक गंगा में प्रवाहित करूंगा तथा गया जाकर सभी पित्तरों को पिंडदान दूंगा। मैं इसी प्रसंग में पूर्व समुद्र तक की तीर्थयात्रा भी करूंगा।"

राजा के ऐसा कहने पर उसके मंत्री उससे बोले—'देव ! आपको किसी प्रकार ऐसा नहीं करना चाहिए। आप यदि राज्य को इस प्रकार अरक्षित छोड़कर चले गए तो पीछे से शत्रुओं को राज्य पर आक्रमण करते देर न लगेगी। अतः आप पिता के संबंध में यह कार्य किसी और के हाथों करा लें। एक राजा के लिए प्रजापालन के अतिरिक्त और कोई बड़ा धर्म नहीं है।"

अपने मंत्रियों की बात सुनकर राजा चंद्रप्रभ ने कहा—"हम जो कुछ निश्चय कर चुके हैं, वह अटल है। पिता के लिए मुझे तीर्थयात्रा अवश्य करनी है। इस क्षणभंगुर शरीर का क्या विश्वास ? पता नहीं कब पूज्य पिताजी की तरह मेरा साथ छोड़ दे। अतः मेरा आदेश है कि जब तक मैं इस तीर्थयात्रा से वापस न लौट आऊं, मेरे स्थान पर तुम लोग मेरे राज्य की रक्षा करोगे।"

राजा की यह आज्ञा सुनकर मंत्रिगण चुप ही रहे। तब वह राजा अपनी यात्रा की तैयारियां करने लगा। एक शुभ दिन स्नानादि करके उसने अग्निहोत्र की विधि सम्पन्न की और ब्राह्मणों का पूजन किया। फिर शांत वेश धारण करके जुते हुए रथ में बैठकर उसने नगर से प्रस्थान किया।

जो सामंत, राजपुत्र, नगरवासी तथा ग्रामीण, राजा को छोड़ने सीमान्त तक आए थे, उनकी इच्छा न होने पर भी राजा चंद्रप्रभ ने बड़ी कठिनता से उन्हें समझा-बुझाकर वापस लौटा दिया और मंत्रियों को राज्य-शासन का भार सौंपकर, वाहनों पर आरूढ़ ब्राह्मणों तथा पुरोहितों के साथ वे आगे बढ़े।

विचित्र प्रकार के वेशों और भाषाओं को देख-सुनकर प्रसन्न होते तथा अनेक प्रकार के देशों को देखते हुए वे सब क्रमशः गंगातट पर जा पहुंचे। राजा ने उस गंगा नदी के देखा, जिसमें जल-कल्लोल से बनने वाली लहरियां, प्राणियों के स्वर्गारोहण के लिए बनाई जा रही सीढ़ियों के समान जा पड़ती थीं। राजा ने रथ से उतरकर विधिपूर्वक पतित-पावनी गंगा में स्नान किया और राजा सूर्यप्रभ की अस्थियां उसमें प्रवाहित कीं।

दान देकर और श्राद्धादि सम्पन्न करके वह फिर रथ पर सवार होकर चल पड़ा और क्रमशः ऋषियों से वंदित प्रयाग में जा पहुंचा। राजा ने वहां उपवास रखकर स्नान, दान, श्राद्ध आदि सभी उत्तम क्रियाएं सम्पन्न कीं और उसके बाद वाराणसी गया। वाराणसी में तीन दिन रुककर विधिपूर्वक सभी धार्मिक क्रियाएं सम्पन्न करके राजा 'गयाशिर' नामक स्थान पर पहुंचा। वहां राजा ने पर्याप्त दक्षिणा के साथ विधिपूर्वक श्राद्ध किया और फिर धर्मारण्य चला गया। 'गया कूप" में जब वह पिंड देने लगा तो उस पिंड को लेने के लिए उस कुएं के भीतर से मनुष्य के तीन हाथ ऊपर निकले। यह देखकर राजा घबरा गया कि यह क्या बात है ? उसने अपने ब्राह्मणों से पूछा—"इनमें से किस हाथ में मैं पिंड दूं ?"

तब उन ब्राह्मणों ने राजा से कहा—"राजन, इनमें से एक हाथ तो निश्चित ही किसी चोर का है क्योंकि लोहे की हथकड़ी पड़ी रहने का निशान उसकी कलाई में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। दूसरा हाथ किसी ब्राह्मण का है क्योंकि उसमें 'पवित्री' पड़ी हुई है। तीसरा उत्तम हाथ लक्षणों वाले किसी राजा का है क्योंकि उसकी उंगलियों में बहुमूल्य रत्नों से जड़ी कई अंगूठियां पड़ी हैं। अतः हम लोग यह समझ पाने में असमर्थ हैं कि आपको पिंडदान इन तीनों हाथों में से किस हाथ में दिलाएं।"

ब्राह्मणों के ऐसा कहने पर राजा अनिश्चय में घिर गया और कोई फैसला न कर सका।

राजा विक्रमादित्य के कंधे पर बैठा बेताल इतनी कथा सुनाकर राजा से बोला—"राजन, वे ब्राह्मण और राजा चंद्रप्रभ पिंडदान देने के विषय में कोई निर्णय न ले सके किंतु तुम अवश्य जानते होंगे कि पिंड लेने का अधिकारी कौन था ? जानते हुए भी यदि तुम मेरे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दोगे तो तुम्हें पहले वाला ही शाप लगेगा।"

धर्मज्ञ राजा विक्रमादित्य ने बेताल की यह बात सुनी। तब उसने मौन त्यागकर बेताल को यह उत्तर दिया—"हे योगेश्वर ! राजा चंद्रप्रभ को उस चोर के हाथ में ही पिंड देना चाहिए क्योंकि वह उसी का क्षेत्रज पुत्र था, शेष दोनों का नहीं। उसे जन्म देने वाले ब्राह्मण को उसका पिता नहीं माना जा सकता क्योंकि उसने तो धन लेकर एक रात के लिए स्वयं को बेच दिया था। राजा सूर्यप्रभ ने यद्यपि उसके जातकर्म संस्कार आदि कराए थे और उसका पालन-पोषण भी किया था, फिर भी वह उसका

पुत्र नहीं माना जा सकता। कारण, जब राजा ने उस बालक को पाया था, तब बच्चे के सिर के पास पालने में जो स्वर्णमूद्राएं रखी हुई उसे मिली थीं, वह उस बालक का अपना ही धन था, जो उसके पालन-पोषण का मूल्य था। अतः उसकी माता जल से संकल्प करके जिसको दी गई थी और जिसने उसे पुत्र उत्पन्न करके ही आज्ञा दी थी तथा अपना सारा धन उसे सौंप दिया था, राजा चंद्रप्रभ उस चोर का ही क्षेत्रज पुत्र था। मेरे विचार से चंद्रप्रभ का उसी के हाथ में पिंड देना उचित था।"

राजा के इस सटीक उत्तर से बेताल संतुष्ट हो गया और पहले की भांति उसके कंधे से उतरकर पुनः उसी शिंशपा-वृक्ष की ओर उड़ गया, जहां से राजा विक्रम उसे लाया था। राजा विक्रमादित्य भी पहले की भांति उसे वापस लाने के लिए उसी स्थान की ओर चल पड़ा।

❑❑❑

बीसवां बेताल

राजा और ब्राह्मण-पुत्र की कथा

राजा विक्रमादित्य ने शिंशपा-वृक्ष के नीचे जाकर पुनः बेताल को अपने कंधे पर उठाया और अपने गंतव्य की ओर चल पड़ा।

मार्ग में बेताल ने पुनः राजा से कहा—''राजन ! यह तुम्हारा कैसा दृढ़ निश्चय है ? जाकर राज-पाठ का सुख भोगो। तुम मुझे जो उस दुष्ट भिक्षु के पास ले जा रहे हो, यह उचित नहीं है। किंतु यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है तो मेरी यह कथा सुन लो।''

आर्यावर्त्त में अपने नाम को सार्थक करने वाला चित्रकूट नाम का एक नगर है। वहां के लोग वर्ण-व्यवस्था की सीमा का उल्लंघन नहीं करते, अर्थात् सभी वर्णों के लोग अपनी मर्यादा के भीतर रहते हुए ही अपने-अपने कार्य करते हैं।

उस नगर में चंद्रावलोक नाम का एक राजा राज्य करता था। वह राजा बहुत धीर-वीर, गंभीर एवं एक महान योद्धा था। उसकी शूरवीरता की कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। लेकिन जैसा कि कहा गया है, हर व्यक्ति को अपनी समस्त इच्छित वस्तुएं कभी नहीं मिल पातीं। इसी प्रकार समस्त संपत्तियों के होते हुए भी वह राजा चंद्रावलोक इस बात से बहुत दुखी रहता था कि उसे अपनी पसंद के अनुसार पत्नी नहीं मिली थी।

एक दिन वह अपने मन का उद्वेग मिटाने के लिए घोड़े पर सवार होकर अपने अनुचरों के साथ वन में शिकार खेलने गया। वहां उसने कई दुर्दांत हिंसक पशुओं का शिकार किया। एक सिंह का शिकार करने की इच्छा से वह अकेला ही उस विकट वन में घुस गया। वहां उसने एक हृष्ट-पुष्ट एवं कद्दावर सिंह को देखा तो लगा जैसे उसका लक्ष्य उसे मिल गया हो। उसने सिंह की ओर कई अचूक तीर छोड़े। उनमें से एक तीर सिंह को जा लगा और वह घबराकर घने जंगल की ओर भाग चला गया। राजा ने भी अपने घोड़े की एड़ लगाई ताकि वह जल्दी से उस सिंह के पास पहुंचकर उसका वध कर सके। किंतु एड़ कुछ ज्यादा ही लग गई। उसका घोड़ा राजा के पांव की एड़ एवं चाबुक की फटकार सुनकर बेहद उत्तेजित हो उठा। सम और विषम भूमि का ध्यान छोड़कर वह वायु-वेग जैसी तीव्रता से दौड़ता हुआ राजा को वहां से दस योजन दूर एक दूसरे प्रदेश में ले आया। वहां पहुंचकर जब घोड़ा रुका, तब राजा को दिशा-भ्रम हो गया। वह किसी प्रकार घोड़े से उतरा और सही दिशा पाने के लिए इधर-उधर भटकने लगा। तभी उसकी निगाह अपने से कुछ आगे एक विशाल सरोवर पर पड़ी। उस सरोवर में कमल खिले हुए थे और भांति-भांति के जलचर उसमें तैरते दिखाई दे रहे थे।

सरोवर के किनारे पहुंचकर राजा ने अपने घोड़े की जीन खोल दी। पहले उसने

घोड़े को पानी पिलाया और खुला छोड़ दिया ताकि वहा उगी हरी-भरी दूब खाकर वह अपना पेट भर सके। फिर स्वयं स्नान करके जल पिया। थकावट दूर होने पर वह उस रमणीक स्थान में इधर-उधर नजर डालने लगा।

तभी उसकी निगाह एक अशोक-वृक्ष के नीचे अपनी सखी के साथ बैठी एक मुनि-कन्या पर पड़ी। वह फूलों के गहने एवं वल्कल वस्त्र पहने हुए थी। प्राकृतिक श्रृंगार करने से वह बहुत मनोरम प्रतीत हो रही थी। राजा उसके रूप को देखकर मोहित हो गया। उसने मन में सोचा—'अरे कौन है यह ? क्या यह कोई दूसरी सावित्री है जो सरोवर में स्नान करने आई हुई है या शिव की गोद में छूटी पार्वती है जो फिर भगवान शिव को पाने के लिए तपस्या करने आई है ? अथवा यह दिन में अस्त हुए चंद्रमा की कान्ति है, जिसने व्रत धारण कर रखा है। तो मैं धीरे-धीरे इसके पास जाकर वरदान प्राप्त करूं।'

ऐसा सोचकर वह राजा उस कन्या के पास पहुंचा। उस कन्या ने भी जब राजा को अपने निकट आते देखा तो उसकी आंखों में चमक आ गई। फूलों की माला गूंथते उसके हाथ सहसा ही रुक गए। वह सोचने लगी—'ऐसे विकट वन में आने वाला यह पुरुष कौन है ? कोई विद्याधर है या कोई सिद्ध ? इसका रूप तो मेरी आंखों को चकाचौंध किए दे रहा है।'

मन-ही-मन ऐसा सोचकर लज्जा के कारण तिरछी नजरों से देखती हुई, वह उठ खड़ी हुई। यद्यपि उसके पांव जकड़-से गए थे तथापि वह जाने को उद्यत हुई। तब चतुर और विनम्र राजा उसके पास पहुंचा और बोला—"सुन्दरी ! जो व्यक्ति दूर से आया है, जिसे तुमने पहली बार देखा है और जो तुम्हारा दर्शन मात्र चाहता है, उसके स्वागत-सत्कार का तुम आश्रम वासियों का यह कैसा ढग है कि तुम उससे दूर भागी जा रही हो ?"

राजा के ऐसा कहने पर उस कन्या की सखी ने, जो राजा के समान ही चतुर थी, राजा को वहां बिठाया और उसका आतिथ्य-सत्कार किया। उत्सुक राजा ने विनम्र स्वर में पूछा—"भद्रे ! तुम्हारी इस सखी ने किस पुण्यवान वश को अलंकृत किया है ? इसके नाम के वे कौन से अक्षर हैं, जो कानों में अमृत उड़ेलते हैं ? और इस निर्जन वन में, पुष्प के समान कोमल अपने शरीर को तपस्वियों जैसी चर्या से क्यों कष्ट दे रही हैं ?"

राजा की यह बातें सुनकर उसकी सखी ने उत्तर दिया—"श्रीमंत ! यह महर्षि कण्व की पुत्री इंदीवर प्रभा है। यह आश्रम में ही पाली-पोसी गई है। इसकी माता स्वर्ग की अप्सरा मेनका है। पिता की आज्ञा से यह इस सरोवर पर स्नान करने के लिए आई है। इसके पिता का आश्रम यहां से अधिक दूर नहीं है।"

राजा यह बातें सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और घोडे पर सवार होकर उस कन्या का हाथ मांगने के लिए कण्व ऋषि के आश्रम में पहुंचा।

वहा पहुंचकर राजा ने मुनि के चरणों की वंदना की। मुनि ने भी उसका

यथोचित स्वागत-सत्कार किया। उसे विश्राम करने के लिए उचित स्थान दिया।

जब राजा विश्राम कर चुका तो मुनि ने उससे कहा—"वत्स चंद्रावलोक ! तुम मेरी एक बात ध्यानपूर्वक सुनो। इस संसार में प्राणियों को मृत्यु से जैसा भय है, उसे तुम भली-भांति जानते हो, फिर भी तुम अकारण ही इन बेचारे मृगों की हत्या क्यों करते हो ? विधाता ने क्षत्रियों का निर्माण तो दुष्टजनों से सज्जनों की रक्षा हेतु ही किया है अतः तुम धर्मपूर्वक राजसुख का भोग करो। हे राजन ! तुम स्वयं ही सोचो कि निर्बल निरीह पशुओं का वध करने से आखिर लाभ ही क्या है ? हे राजा चंद्रावलोक ! क्या तुमने राजा पांडु का वृत्तांत नहीं सुना जिन्हें इसी शौक के कारण शापवश अपने प्राण त्यागने पड़े थे। इसीलिए मैं तुम्हें समझ रहा हूं कि मृगया (आखेट) के बहाने पर निरीह पशुओं का शिकार करना तुरंत बंद कर दो।"

मुनि के बार-बारे ऐसा समझाने का राजा के मन पर भारी प्रभाव पड़ा। उसने मुनि से कहा—"हे मुनिश्रेष्ठ ! आज से पहले किसी ने मुझे इस प्रकार समझाने की चेष्टा नहीं की थी इसीलिए अज्ञानवश मैं ऐसा करता रहा। किंतु मैं वचन देता हूं कि आज के बाद फिर कभी मृगया करने का विचार मन में नही लाऊंगा। आज के बाद मेरी ओर से सभी वन-प्राणी अभय हैं।"

यह सुनकर मुनि ने कहा—"राजन ! तुमने वन-प्राणियों को अभयदान दिया, इससे मैं बहुत संतुष्ट हुआ हूं। अतः तुम मुझसे कोई इच्छित वर मांगो।"

मुनि के ऐसा कहने पर समय को जानने वाले राजा चंद्रावलोक ने कहा—"हे मुनिवर ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो आप अपनी कन्या इंदीवर प्रभा को मुझे दें।"

राजा के इस प्रकार याचना करने पर मुनि ने अपनी वह कन्या राजा को दे दी, जिसका जन्म एक अप्सरा की कोख से हुआ था और जो सिर्फ राजा के ही योग्य थी।

अनन्तर, उसके साथ विवाह करके राजा वहां से चलने को तैयार हुआ। आश्रम के समस्त मुनिकुमार आंखों में अश्रु लिए उन्हें आश्रम की सीमा तक पहुंचा आए।

जब राजा ने मुनि कण्व और उनके शिष्यों से विदा ली, तब सूर्यास्त होने को ही था। मार्ग में चलते हुए उन्हें रात्रि हो गई लेकिन राजा फिर भी चलता ही रहा।

एक स्थान पर रुककर राजा ने मार्ग में एक पीपल का वृक्ष देखा। तब राजा ने सोचा कि रात्रि मे वही विश्राम करना चाहिए। यही सोचकर वह वहीं घोड़े से उतर पड़ा। उस रात वह राजा वहां उस मुनिकन्या के साथ पुष्प शय्या पर सोया।

सुबह जब वह अपने नगर की ओर चलने को हुआ तो अचानक एक ब्रह्मराक्षस से उसका सामना हो गया। उस राक्षस का विकराल शरीर देखकर राजा की पत्नी, वह मुनिकन्या सिहर उठी। वह राक्षस काजल के समान काला था और कालमेघ के समान प्रतीत होता था। उसने अंतड़ियों की माला पहन रखी थी। उस समय वह किसी मनुष्य

का मांस खा रहा था और उसकी खोपड़ी का रक्त पी रहा था। क्रोध के कारण उसके मुख से अग्नि-सी निकल रही थी। उसकी दाढ़ें बड़ी भयानक थीं।

प्रचंड अट्टहास करके, राजा का तिरस्कार करते हुए वह बोला—"अरे नीच, मैं ज्वालामुखी नाम का राक्षस हू। पीपल का वह वृक्ष मेरा निवास-स्थान है। देवता भी इसकी अवमानना नहीं कर सकते। मैं रात को जब घूमने-फिरने गया, तभी तूने यहां रात बिताई। अब तू इस अविनय का फल भोग। अरे दुराचारी, वासना से तेरी सुध-बुध जाती रही है। मैं तेरा हृदय निकालकर खाऊंगा और तेरा रुधिर पी जाऊंगा।"

राजा ने ब्रह्मराक्षस की बातें सुनीं। ब्रह्मराक्षस बड़ा भयानक था। राजा ने महसूस किया कि उसे मार डालना किसी भी प्रकार संभव नहीं है, अतः उसने विनयपूर्वक कहा—"अनजाने में मुझसे जो अपराध हुआ है, आप उसे क्षमा कर दें। मैं आपके आश्रय में आया हुआ अतिथि हूं, आपकी शरण में हूं। मैं आपको मनचाहा आखेट ला दूंगा जिससे आपकी तृप्ति हो जाएगी। अतः क्रोध त्यागकर आप प्रसन्न हों।"

राजा की बातें सुनकर राक्षस कुछ शांत हुआ और उससे बोला—"अगर तुम सात दिनों के अंदर मुझे किसी ऐसे ब्राह्मण-पुत्र की भेंट लाकर दो जो सात वर्ष का होने पर भी बड़ा वीर हो, विवेकी हो और अपनी इच्छा से तुम्हारे लिए अपने को दे सके और जब वह मारा जाए तो भूमि पर डालकर उसकी माता उसके हाथ और पिता उसके पांव मजबूती से पकड़े रहें तथा तलवार के प्रहार से तुम्हीं उसे मारो तो मै तुम्हारे इस अपराध को क्षमा कर दूंगा, नही तो राजन मैं शीघ्र ही तुम्हें और तुम्हारे लश्कर को मार डालूंगा।"

प्राण जाने के भय से राजा ने तुरंत उसकी शर्त स्वीकार कर ली। तब वह ब्रह्मराक्षस तत्काल वहां से अन्तर्ध्यान हो गया।

राजा अपनी पत्नी को लिए घोड़े पर सावर होकर आगे चल दिया लेकिन उसका मन बहुत उदास था। वह सोचने लगा—"मैं भी कैसा पागल हूं जो उस ब्रह्मराक्षस की शर्त मान ली। भला वैसा उपहार मुझे मिलेगा भी कहां ? मैंने प्राण जाने के भय से व्यर्थ ही उस राक्षस की शर्त स्वीकार की। इससे तो बेहतर था कि वह मुझे ही अपना आहार बना लेता। अब मैं अपने नगर को चलूं और देखूं कि होनहार क्या है ?'

राजा ऐसा ही कुछ सोचता जा रहा था कि उसकी सेना उसे खोजती हुई वहां पहुंच गई। तब वह अपनी सेना व अपनी पत्नी के साथ अपने नगर चित्रकूट में आया। राजा को उसके अनुकूल पत्नी मिली है, यह जानकर राजधानी में उत्सव मनाया गया लेकिन मन का दुख मन में ही दबाए हुए राजा ने बाकी दिन बिता दिया।

अगले दिन एकान्त में उसने अपने मंत्रियों से सारा वृत्तांत कह सुनाया।

सुनकर उनमें से सुमति नामक एक मंत्री ने कहा—"राजन, आप चिंता न करें,

मै वैसा ही उपहार खोजकर ला दूंगा क्योकि यह धरती अनेक आश्चर्यो से भरी पड़ी है।''

राजा को इस प्रकार आश्वासन देकर उस मंत्री ने शीघ्र ही सात वर्ष की उम्र वाले एक बालक की मूर्ति बनवाई। उसने मूर्ति को रत्न से सजाकर एक पालकी में बिठा दिया। फिर वह पालकी इस घोषणा के साथ अनेक नगरो, गांवों में जहां-तहां घुमाई गई—'सात वर्ष का एक ब्राह्मण पुत्र, जो समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए अपनी इच्छा से अपना शरीर एक ब्रह्मराक्षस को सौपेगा और इस कार्य में वह न केवल अपने माता-पिता की अनुमति ही ले लेगा, बल्कि जब वह मारा जाएगाः तब स्वयं उसके माता-पिता उसके हाथ-पैर पकड़े रहेंगे। अपने माता-पिता की भलाई चाहने वाले ऐसे बालक को राजा सौ गांवों के साथ यह सोने और रत्नों से जड़ी मूर्ति भी दे देंगे।'

इस प्रकार जब बालक की वह मूर्ति घुमाई जा रही थी, तब एक ब्राह्मण-पुत्र ने यह घोषणा सुनी। वह बालक बड़ा वीर और अद्‌भुत आकृति वाला था। पूर्वजन्म के अभ्यास से वह बचपन से ही सदा परोपकार में लगा रहता था। ऐसा जान पड़ता था मानो प्रजा के पुण्य-फल ने ही उसके रूप में शरीर धारण कर रखा हो। ढिंढोरा पीटने वालों के पास जाकर उसने कहा—''प्रजा के हित में मै अपने को अर्पित करूंगा। मै अपने माता-पिता को समझाकर अभी आता हूं।''

उसकी यह बातें सुनकर ढिंढोरा पीटने वाले प्रसन्न हो गए। उन्होंने उसे अनुमति दे दी। घर जाकर बालक ने हाथ जोड़कर अपने माता-पिता से कहा—''समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए मैं अपना यह नश्वर शरीर दे रहा हूं। अतः आप लोग मुझे आज्ञा दें और इस प्रकार अपनी दरिद्रता का भी अंत करें। इसके लिए यहां के राजा सौ गांवों सहित सोने और रत्नों वाली मेरी यह प्रतिकृति (मूर्ति) मुझे देंगे, जिसे मैं आप लोगों को सौंप दूंगा। हे पिताश्री, तब मैं आप लोगों से भी उऋण हो जाऊंगा और पराया कार्य भी सिद्ध कर सकूंगा। दरिद्रता से छुटकारा पाकर आप भी अनेक पुत्र प्राप्त कर सकेंगे।''

पुत्र की यह बातें सुनकर उसके माता-पिता ने कहा—''बेटा ! क्या तू पागल हो गया है जो ऐसी बहकी-बहकी बातें कह रहा है ? भला धन के लिए कौन अपने पुत्र की हत्या करना चाहेगा और कौन बालक अपना शरीर देना चाहेगा ?''

''माता-पिता की यह बातें सुनकर उस बालक ने फिर कहा—''पिताश्री, न तो मेरी बुद्धि नष्ट हुई है और न ही मैं कोई प्रलाप कर रहा हूं। अतः आप मेरी अर्थयुक्त बातें सुनिए। मानव का यह शरीर अपवित्र वस्तुओं से भरा है। जन्म से ही यह जुगुप्सित (व्याधियों का घर) है। अतः शीघ्र ही इसे नष्ट हो जाना है। इसलिए बुद्धिमान लोगों का कहना है कि इस क्षणभंगुर शरीर से संसार में जितना भी पुण्य उपार्जित किया जा सके, वही सार वस्तु है। हे पिताश्री समस्त प्राणियों का उपकार करने से बड़ा और कौन-सा पुण्य हो सकता है ? और उसमें भी अगर माता-पिता की भक्ति हो तो देह-धारण करने का अधिक फल और क्या होगा ?''

इस तरह की बातें कहकर उस दृढ़प्रतिज्ञ बालक ने शोक करते हुए अपने माता-पिता से अपनी मनचाही बात स्वीकार करा ली। फिर वह राजा के सेवकों के पास गया और वह सुवर्णमूर्ति तथा उसके साथ सौ गांवों का दानपत्र लाकर अपने माता-पिता को दे दिया। इसके पश्चात् उन राजसेवकों को आगे करके अपने माता-पिता के साथ वह शीघ्रतापूर्वक राजा के साथ चित्रकूट की ओर चल पड़ा।

चित्रकूट में जब राजा चंद्रावलोक ने अखंडित तेज वाले उस बालक को देखा, तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने फूलों और चन्दन के लेप से बालक को सजाया और उसे हाथी की पीठ पर बैठाकर, उसके माता-पिता के साथ उस ब्रह्मराक्षस के स्थान पर ले गया।

उस पीपल के वृक्ष के निकट बेदी बनाकर राजा के पुरोहित ने विधिपूर्वक जैसे ही अग्नि में आहुति डाली, त्योंही अट्टहास करता हुआ, मंत्र पढ़ता हुआ, वह ब्रह्मराक्षस प्रकट हुआ। लाल रंग की मदिरा पीने के कारण उन्मत्त होकर वह झूम रहा था, जम्हाइयां ले रहा था और तेजी से सांसें छोड़ रहा था। उसकी आंखें जल रही थीं, मुख से ज्वाला निकल रही थी और उसके शरीर की छाया से दिशाओं में अधकार-सा फैला प्रतीत होने लगा था।

राजा चद्रावलोक ने उसे देखकर नम्रतापूर्वक कहा—"भगवन् आज मेरी प्रतिज्ञा का सातवा दिन है। अपने वचन के अनुसार मै यह मानव उपहार आपके लिए लाया हू। अतः आप प्रसन्न होकर विधिपूर्वक उसे ग्रहण करें।"

राजा के इस प्रकार निवेदन करने पर ब्रह्मराक्षस ने अपनी जीभ से होंठों के किनारों को चाटते हुए उस ब्राह्मण ने बालक की ओर देखा। यह देखकर भी वह बालक तनिक भी नहीं डरा बल्कि यही सोचने लगा कि 'इस प्रकार अपने शरीर का दान करके मैंने जो पुण्य अर्जित किया है, उससे मुझे ऐसा स्वर्ग अथवा मोक्ष नहीं मिलना चाहिए जिससे दूसरों का उपकार न होता हो, बल्कि जन्म-जन्मांतर में मेरा यह शरीर परोपकार के काम में ही आए।' ज्योंही ही उसने मन में यह बातें सोचीं, त्योंही क्षण भर में फूल बरसाते हुए देवसमूह के विमानों से आकाश भर गया।

अनन्तर, उस बालक को ब्रह्मराक्षस के सम्मुख लाया गया। मां ने उसके हाथ पकड़े और पिता ने पैर। इसके बाद ज्योंही राजा तलवार उठाकर उसे मारने चला, त्योंही उस बालक ने ऐसा अट्टहास किया कि ब्रह्मराक्षस सहित सब लोग विस्मय में पड़ गए। अपना-अपना काम छोडकर हाथ जोड़कर वे उस बालक का मुंह देखने लगे।

इस प्रकार, यह विचित्र और सरस कथा सुनाकर बेताल ने फिर राजा विक्रमादित्य से पूछा— "राजन ! अब तुम मेरे इस प्रश्न का उत्तर दो कि प्राणान्त के ऐसे समय में भी वह बालक क्यों हंसा था ? मुझे इस बात का बहुत कौतूहल है। जानते हुए भी यदि तुम इसका कारण नहीं बताओगे तो तुम्हारा सिर अनेक टुकड़ों में खंड-खंड होकर बिखर जाएगा।"

बेताल की यह बात सुनकर राजा ने कुछ इस प्रकार उसका निराकरण किया—"हे बेताल ! जो प्राणी दुर्बल होता है, वह भय के उपस्थित होने पर अपने प्राणों की रक्षा के लिए अपने माता-पिता को पुकारता है। उनके न होने पर राजा को पुकारता है क्योंकि आर्तजनों की रक्षा के लिए ही तो राजा बनाए जाते हैं। यदि उसे राजा का भी सहारा नहीं मिलता तो फिर वह अपने कुलदेवता का स्मरण करता है। उस बालक के तो सभी सहायक वहां उपस्थित थे लेकिन वे सब-के-सब प्रतिकूल हो गए थे। माता-पिता ने धन के लोभ में उस बालक के हाथ-पैर पकड़ रखे थे। राजा अपने प्राणों की रक्षा के लिए स्वयं उसका वध करने को उद्यत था और वहां देवता के रूप में जो ब्रह्मराक्षस था, वही उसका भक्षक था। जो शरीर नाशवान है, जिसका अंत कड़वा है तथा जो अधिकाधिक जर्जर है, उसके लिए भी उन मूढ़मति वाले लोगों की ऐसी विडम्बना देखकर उसे आश्चर्य हुआ। जिन शरीरों में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और शंकर का निवास होता है, वे भी अवश्य नष्ट हो जाते हैं और उसी शरीर को स्थिर बनाए रखने की इन सबमें कैसी विचित्र वासना है ! वह बालक उन लोगों की देह-ममता की यह विचित्रता देखकर अचरज में पड़ गया और अपनी अभिलाषा को पूर्ण जानकर प्रसन्न हुआ और इसी आश्चर्य व प्रसन्नता से वह हंस पड़ा था।"

राजा विक्रमादित्य जब ऐसा कहकर चुप हो गए, तब वह बेताल अपनी माया के बल से विक्रमादित्य के कंधे से गायब होकर फिर अपनी जगह पर जा पहुंचा। राजा भी बिना आगा-पीछा देखे शीघ्रतापूर्वक पुनः उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

बड़े लोगों का हृदय समुद्र के समान होता है, उसे किसी भी तरह से क्षुब्ध नहीं किया जा सकता।

❑❑❑

इक्कीसवां बेताल

अनंगमंजरी व मणिवर्मा की कथा

राजा विक्रमादित्य फिर उसी शिंशपा-वृक्ष के निकट पहुंचा। बेताल को वृक्ष से उतारा और उसे कंधे पर लादकर लौट पड़ा। मार्ग में बेताल ने फिर राजा को एक रोचक कथा सुनाई।

विशालपुर नाम की एक नगरी में पद्मनाभ नामक एक महाप्रतापी राजा राज करता था। उसकी नगरी में अर्थदत्त नाम का एक व्यापारी भी रहता था, जिसने अपने वाणिज्य-कौशल से अकूत सम्पदा एकत्रित की हुई थी। अर्थदत्त की एक ही संतान थी—अनंगमंजरी नाम की एक अजीब सुन्दर कन्या। अनंगमंजरी जब विवाह योग्य हुई तो उसके पिता ने ताम्रलिप्ति नगर के एक संभ्रान्त व्यापारी युवक मणिवर्मा से उसका विवाह कर दिया। अपनी पुत्री से अधिक स्नेह करने के कारण अर्थदत्त ने उसे उसकी ससुराल नहीं भेजा बल्कि अपने दामाद को वहीं रहने के लिए बुला लिया। जैसे किसी रोगी को कड़वी व तीखी दवाएं अप्रिय लगती हैं, उसी प्रकार अनंगमंजरी को अपना पति मणिवर्मा भी अप्रिय जान पड़ता था, लेकिन मणिवर्मा को अपनी पत्नी प्राणों से भी अधिक प्रिय थी। वह हर समय इसी प्रयास में लगा रहता था कि उसकी अतीव सुन्द पत्नी को कोई कष्ट न होने पाये।

एक बार अपने माता-पिता से मिलने के लिए मणिवर्मा ताम्रलिप्ति चला गया और काफी दिन तक वहीं रहता रहा। उन्हीं दिनों एक बार जब अनंगमंजरी अपनी विश्वस्त सखियों के साथ अपने भवन के एक ऊंचे झरोखे में बैठी थी। उसने नीचे एक गली में एक सुन्दर और तरुण ब्राह्मण कुमार को आते देखा। उसके चेहरे का तेज देखकर वह उसकी ओर आकर्षित हो गई। वह राजपुरोहित का पुत्र था और उसका नाम था—कमलाकर। कमलाकर ने भी ऊंचे झरोखे में बैठी अनंगमंजरी को देखा तो वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया। वह कुछ क्षण उसी की ओर टकटकी लगाए देखता रहा, फिर एक मनोहारी मुस्कान उसकी ओर फेंकता हुआ वह वहां से चला गया। अनंगमंजरी उसकी मधुर मुस्कान पर जैसे मर मिटी। कमलाकर उसके मन पर काम-बाण चला गया था। उस दिन से सारी सुध-बुध खोकर वह उसी की याद में विदग्ध रहने लगी। उसका खाना-पीना छूट गया और वह लज्जा, भय एवं विरहोन्माद में दुबली तथा पीली पड़ गई।

प्रिय मिलन बड़ा कठिन था। अनंगमंजरी निराश-सी हो गई थी। कमलाकर को पाने की लालसा में वह एक दिन इतनी व्याकुल हो गई कि उसने प्राण त्यागने का ही निश्चय कर डाला। एक रात वह चुपके से अपनी कुलदेवी चामुंडा के मंदिर में पहुंची और वहां देवी के सम्मुख हाथ जोड़कर विनती की—"हे देवी ! इस जन्म में तो मैं कमलाकर को पति रूप में

पा नहीं सकती किंतु मुझे आशीर्वाद दो कि अगले जन्मो मे वह मेरा ही पति हो।"

देवी के सम्मुख ऐसा कहकर उसने अपनी पिछौरी से एक फंदा तैयार किया और उसे एक अशोक-वृक्ष की शाखा में लटका दिया। इसी बीच महल मे जब उसकी अंतरंग सखी मालतिका की नींद खुली और उसने अनंगमंजरी को वहां न देखा तो वह उसे ढूंढ़ने निकल पड़ी। मंदिर के समीप जब उसने अनंगमंजरी को अपनी गरदन में फंदा डालते देखा तो वह घबरा उठी और दौड़ती हुई उसके समीप जा पहुंची। उसने उसके गले में फांसी का फंदा निकाला और व्यग्र स्वर में अनंगमंजरी से पूछा—"सखी, ऐसी क्या बात हो गई जिसके कारण तुम अपनी जान देने पर तैयार हो गई। देखो, मैं तुम्हारी सखी हूं, तुम्हारी हितैषी। मुझे अपना दुख बता दो, मैं अपने प्रयास से तुम्हारा दुख दूर करने की कोशिश करूंगी।"

तब अनंगमंजरी ने अपने मन की सारी व्यथा सुनाकर उससे कहा—"सखी, मेरे हृदय में उस तरुण के न मिलने से विरह की अग्नि जल रही है। यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो तो मुझे मेरे प्रियतम से मिला दो।"

अनंगमंजरी के ऐसा कहने पर मालतिका ने उसे आश्वासन दिया—"सखी, आज तो बहुत रात हो गई है। सवेरा होने पर मैं कुछ प्रबंध करूंगी और तुम्हारे प्रियतम को इसी जगह बुला दूंगी। इस बीच तुम धीरज धरो और अपने घर जाओ।"

सवेरा होने पर मालतिका छिपती-छिपाती कमलाकर के पास पहुंची। वह उस समय बगीचे में एक वृक्ष के नीचे चन्दन जल से भीगे कमल-पत्रों की शय्या पर लेटा हुआ था। उसका एक घनिष्ठ मित्र, जो उसके सारे रहस्य जानता था, काम-ज्वाला में जलतें हुए अपने मित्र को केले के पत्ते से हवा कर रहा था। यह दृश्य देखकर मालतिका ने सोचा कि 'क्या मेरी सखी अनंगमंजरी के विरह में ही इसकी यह दशा हो रही है ?' ऐसा सोचकर वह सत्य का पता लगाने के लिए एक वृक्ष के पीछे छिप गई।

उसी समय कमलाकर के उस मित्र ने कहा—"मित्र, जरा देर तुम इस सुहावने बगीचे को देखकर अपना जी बहलाओ और अपने हृदय में जलती हुई विरह-वेदना की आग को ठंडा करने की कोशिश करो। मैं अभी आता हूं।" ऐसा कहकर उसका मित्र जाने के लिए उद्यत हुआ लेकिन उसे रोककर कमलाकर ने कहा—"मित्र, कैसे बहलाऊं अपने मन को। उस व्यापारी की कन्या ने मेरे मन को चुराकर मुझे सूना कर दिया है। मेरे सूने हृदय को कामदेव ने अपने बाणों का तरकस बना दिया है इसलिए तुम कोई ऐसा उपाय करो, जिससे मैं उसे पा सकूं।"

कमलाकर की ऐसी बातें सुनकर मालतिका का संदेह जाता रहा। वह अपने छिपे स्थान से निकली और कमलाकर के समीप जाकर बोली—"भद्र, मुझे अनंगमंजरी ने आपके पास भेजा है। उसने संदेश दिया है कि यदि शीघ्र ही आप उससे न मिले तो वह अपने प्राण त्याग देगी। आपके विरह में उसकी बहुत बुरी दशा हो रही है। शरीर सूख गया है और उसके चेहरे की कांति आभाहीन हो गई है। यदि

आप उसे बचाना चाहते हैं तो जैसा मैं कहूं वैसा ही करें।"

इस पर विरह की आग में जलते हुए कमलाकर पर मानो अमृत की वर्षा हो गई। उसने तुरंत उससे अपनी सहमति व्यक्त कर दी।

तब मालतिका ने कहा—"आज रात को मैं गुप्त रूप से अनंगमंजरी को उसके महल के बगीचे में ले आऊंगी। आप वहीं बाहर ठहरियेगा, उसके बाद मैं कोई उपाय करके आपको भी भीतर बुला लूंगी और इस तरह आप दोनों का मनचाहा मिलन हो सकेगा।"

इस प्रकार मालतिका ने अपनी बातों से उस ब्राह्मण-पुत्र को प्रसन्न किया। अपना काम पूरा करके वह वापस लौटी और उसने अनंगमंजरी को भी आनंदित किया।

उस रात जब वह कामी और उत्कंठित कमलाकर सज-धजकर अपनी प्रिया के गृहोद्यान के दरवाजे पर पहुंचा तो मालतिका उसे युक्तिपूर्वक उस उद्यान में ले गई। कमलाकर ने अनंगमंजरी को एक आम्रकुंज की छाया में बैठे हुए देखा। बटोही जिस प्रकार छाया को देखकर खिल उठता है, वैसा ही कुछ हाल उस समय कमलाकर का हुआ। उसे देखकर कमलाकर का चेहरा खिल उठा। वह आगे बढ़ ही रहा था कि अनंगमंजरी ने उसे देख लिया। काम के आवेग ने उसकी लज्जा नष्ट कर दी थी। उसने दौड़कर कमलाकर को गले से लगा लिया—"कहां जाते हो ? मैंने तुम्हें पा लिया है।" ऐसा कहकर अनंगमंजरी प्रलाप करने लगी। अत्यधिक प्रसन्नता के मारे उसकी सांस रुक गई और उसके प्राण जाते रहे।

वायु से छिन्न लता के समान वह धरती पर गिर पड़ी। अहा ! प्रेम का पंथ भी निराला है, जिसका परिणाम सदा दुखदायी ही होता है। यह आकस्मिक और भयावह वज्रपात देखकर—"हाय-हाय, यह क्या हो गया ?" कहता हुआ कमलाकर भी मूर्छित होकर गिर पड़ा। कुछ क्षणों बाद जब उसे चेतना आई, तब उसने अपनी प्रिया को गोद में ले लिया और उसका आलिंगन तथा चुम्बन करता हुआ अनेक प्रकार से विलाप करने लगा।

कठोर दुख की अधिकता से वह इतना विकल हो गया कि पलक झपकते ही उसका हृदय फट गया और उसकी भी मृत्यु हो गई। मृत्यु को प्राप्त हुए दोनों प्रेमियों के लिए मालतिका जब शोक कर रही थी, तब मानो शोक के कारण ही रात भी समाप्त हो गई।

सवेरा होने पर, बगीचे के रखवालों से सारा समाचार जानकर उन दोनों के परिवार के लोग लज्जा, आश्चर्य, दुख और मोह से विकल होते हुए वहां आए। खेद से मस्तक झुकाए दोनों पक्ष के लोग बहुत देर तक इस दुविधा में पड़े रहे कि अब क्या करना चाहिए। सच है, बुरी स्त्रियां कुल को बिगाड़ने वाली और सन्तापदायक ही होती है।

इसी बीच उसका पति मणिवर्मा, अनंगमंजरी के लिए उत्कंठित, ताम्रलिप्ति से लौट आया।

पत्नी को याद करता हुआ वह भी बगीचे में जा पहुंचा। वहां उसने अपनी स्त्री को पर-पुरुष के निकट मरी हुई देखा। फिर भी उस पर अत्यंत अनुराग होने के कारण हृदय मे शोक की अग्नि जल उठी और उसने भी वहीं पर अपने प्राण त्याग दिए।

तत्पश्चात्, वहां इकट्ठे हुए लोगों की चीख-पुकार सुनकर नगर के सभी लोगों को सारा वृत्तांत मालूम हो गया और वे विस्मित होते हुए वहां आ पहुंचे। अनंगमंजरी के पिता ने चामुंडा देवी का जो मंदिर बनवाया था, वह निकट ही था। यह दृश्य देखकर गणों ने देवी से निवेदन किया—''हे देवी ! अर्थदत्त ने ही यहां आपकी प्रतिष्ठा की है। यह व्यापारी सदा से ही आपका भक्त रहा है। अतः इस दुख के समय इस पर दया करें।''

गणों की प्रार्थना सुनकर देवी ने उन्हें पुनर्जीवित होने का आशीर्वाद प्रदान कर दिया। देवी की कृपा से वे तीनों ही इस प्रकार जीवित हो उठे मानो सोते से जाग पड़े हों। अब उनके काम-विकार भी नष्ट हो चुके थे।

यह आश्चर्यजनक घटना देखकर वहां उपस्थित सभी लोग बहुत आनंदित हुए। कमलाकर लज्जा से मस्तक झुकाकर अपने घर चला गया। अर्थदत्त भी लजाई हुई अपनी कन्या को उसके पति सहित घर ले गया।

उस रात को मार्ग में जाते हुए बेताल ने यह कथा सुनाकर पृथ्वीपति विक्रमादित्य से पुनः पूछा— ''राजन, अब तुम मेरी इस शंका का समाधान करो कि प्रेम में अंधे बने हुए उन तीनों में से किसकी आसक्ति अधिक थी ? अनंगमंजरी को कमलाकर की अथवा अनंगमंजरी के पति मणिवर्मा की ? यदि जानते हुए भी तुमने मेरी शंका का समाधान नहीं किया तो मेरा वही शाप तुम पर फट पड़ेगा।''

बेताल की यह बातें सुनकर राजा ने उत्तर दिया—''हे बेताल ! मुझे तो इन तीनों में से मणिवर्मा ही अधिक मोहान्ध जान पड़ता है। कारण यह कि शेष दोनों तो एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त थे और समय पाकर उनकी आसक्ति पक्की हो चुकी थी, अतः उन दोनों ने प्राण त्याग दिए, तो ठीक ही था; लेकिन मणिवर्मा तो बहुत ही मोहान्ध था। उसको तो पर-पुरुष के प्रति आसक्त अपनी पत्नी पर क्रोध करना चाहिए था। लेकिन ऐसा न करके उसकी प्रीति के कारण शोक से उसने अपने प्राण ही त्याग दिए थे, अतः सबसे ज्यादा मोहान्ध वही हुआ। उसी की आसक्ति सबसे अधिक थी।''

राजा का उत्तर बिल्कुल सटीक था, अत. बेताल संतुष्ट हो गया और पहले की ही भांति अपनी माया से राजा के कंधे से उतरकर अन्तर्ध्यान हो गया। तत्पश्चात् फिर वह उसी शिशपा-वृक्ष पर जाकर उलटा लटक गया। दृढ़ निश्चयी राजा विक्रमादित्य भी पुनः उसे लाने के लिए उस शिंशपा-वृक्ष की ओर दौड़ चला।

❑❑❑

बाईसवां बेताल

चार ब्राह्मण भाइयों की कथा

राजा विक्रमादित्य ने फिर उस शिशपा-वृक्ष के निकट जाकर बेताल को नीचे उतारा और पहले की भांति उसे अपने कंधे पर लादकर चल पड़ा।

कुछ दूर चलने पर बेताल ने पुनः मौन भंग किया और कहा—"राजन ! आप सज्जन और महापराक्रमी है और संसार का हर व्यक्ति सज्जन और पराक्रमी व्यक्ति का सम्मान करता है। आप परिश्रम भी बहुत कर रहे है अत परिश्रम को भुलाने के लिए मैं तुम्हें एक और नई कथा सुनाता हूं।"

प्राचीन काल में इस आर्यावर्त्त में कुसुमपुर नाम का एक नगर था। उस नगर के स्वामी धरणीवराह नाम के एक राजा थे। ब्राह्मण बहुल उनके राज्य में ब्राह्मणों को दान स्वरूप दिया गया, ब्रह्मस्थल नाम का एक गांव था।

उस गांव में विष्णुस्वामी नाम का एक ब्राह्मण रहता था। विष्णुस्वामी के चार पुत्र थे। जब उसके वे पुत्र वेदो का अध्ययन कर चुके तो उसी बीच विष्णुस्वामी और उसकी पत्नी का देहान्त हो गया।

माता-पिता के जीवित न रहने पर उन चारो भाइयों की आर्थिक स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई क्योकि उनके सगे-संबंधियों ने उनका सब कुछ हडप कर लिया था। तब उन चारों ने आपस मे सलाह की कि—"यहा अब हमारी गुजर-बसर नहीं हो सकती। अब तो हमें अपने नाना के यहां, ब्रह्मस्थल नाम के गांव में चले जाना चाहिए।"

ऐसा निश्चय करके, राह में मांगते-खाते वे बहुत दिनो मे अपने नाना के घर जा पहुंचे। वहां नाना के न रहने पर भी उनके मामाओं ने उन्हें आश्रय दिया। उनके यहां खाते-पीते और वेदों का अध्ययन और अभ्यास करते हुए वे रहने लगे।

समय बीतने लगा तो उनके मामाओं ने उनकी उपेक्षा करनी आरंभ कर दी। मामों से भी उपेक्षित उन चारों ने एक दिन पास मे विचार-विमर्श किया। उनमें से जो सबसे बड़ा भाई था, वह बोला—"भाइयो, हम लोगों को ऐसी हालत मे क्या करना चाहिए ? यह सब तो विधाता के ऊपर निर्भर है क्योंकि मनुष्य के किए से तो यहां कभी कुछ नही हो सकता। आज उद्विग्न होकर घूमता हुआ जब मैं श्मशान पहुंचा तो वहा मैने एक मरे हुए पुरुष का शरीर देखा। उसे देखकर मैं उसकी दशा की सराहना करने लगा कि यह धन्य है, जो दुख का सारा भार उतारकर इस प्रकार विश्राम कर रहा है। ऐसा सोचकर मैने भी उसी समय मरने का निश्चय किया। मैं एक वृक्ष की डाली मे फंदा डालकर उससे लटक गया। मै अचेत तो हो गया किंतु मेरे प्राण नहीं

निकले थे। इसी समय फंदा टूट गया और मैं भूमि पर गिर पड़ा। जब मुझे चेतना आई तो मैंने देखा कि कोई कृपालु पुरुष वस्त्र से शीघ्रतापूर्वक हवा करके मुझे सचेत करने का प्रयत्न कर रहा है।

"एक क्षण रुककर वह फिर बोला—'उस व्यक्ति ने मुझसे कहा—'अरे भाई, विद्वान होकर भी तुम किसके लिए इतना खेद कर रहे हो ? मनुष्य को उसके सुकर्मो से सुख और दुष्कर्मों से दुख मिलता है। अतः यदि तुम दुखों से घबरा गए हो तो सत्कर्म करो। तुम आत्महत्या करके नरक के दुख की कामना क्यों करते हो ?' यह कहकर मुझे समझाकर वह व्यक्ति वहां से चला गया। मैं भी इस कारण मरने का इरादा छोड़कर यहां चला आया। स्पष्ट है कि विधाता की इच्छा न होने पर मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। अतः अब मैं किसी तीर्थस्थान पर जाकर तपस्या करूंगा और इस प्रकार शरीर का त्याग करूंगा कि फिर मुझे निर्धनता का दुख न भोगना पड़े।"

बड़े भाई के ऐसा कहने पर उसके छोटे भाई उससे यह बोले—"आर्य, आप विद्वान होकर भी धन हीनता के कारण दुखी क्यों हो रहे हो ? क्या आप नहीं जानते कि धन तो शरद के मेघों की तरह चंचल होता है। दुर्जन की मित्रता, वेश्या और लक्ष्मी—ये तीनों ही अंत में आंखें फेर लेती हैं। इनकी चाहे जितनी रखवाली की जाए, चाहे जितनी सावधानी रखी जाए, ये कभी किसी के होकर नहीं रहते। अतः मनस्वी पुरुष को यत्न करके कोई ऐसा गुण अर्जित करना चाहिए जो धन रूपी हिरण को बलपूर्वक बार-बार बांधकर ला सके।"

छोटे भाइयों की यह बातें सुनकर बड़े भाई ने शीघ्र ही धैर्य धारण करते हुए कहा—"तो फिर अर्जन करने योग्य कौन-सा गुण हो सकता है ?" बाद में, वे सभी सोच-विचार करके एक-दूसरे से कहने लगे—"सारी दुनिया को छानकर हम लोग कोई विशेष ज्ञान अर्जित करेंगे।" ऐसा निश्चय करके और लौटकर मिलने का एक ठिकाना बताकर वे चारों, चार अलग-अलग दिशाओं में चले गए।

समय पाकर वे चारों निश्चित किये हुए ठिकाने पर आ मिले और एक दूसरे से यह बताने लगे कि किसने क्या सीखा है।

उनमें से एक ने कहा—"मैंने तो ऐसी विद्या सीखी है कि मुझे जिस किसी प्राणी की हड्डी का एक टुकड़ा मिल जाए, तो मैं अपनी विद्या से क्षण-भर में उसमें उस प्राणी के योग्य मांस तैयार कर दूं।"

इस पर दूसरे ने कहा—"मैं उसके अनुकुल चमड़ी और रोम तैयार कर सकता हूं।"

इस पर तीसरे ने कहा—"चमड़ी, मांस और रोएं हो जाने पर मै उस प्राणी के अवयव और आकृति बना सकता हूं।"

अब चौथे की बारी थी, उसने कहा—"अवयव और आकृति बन जाने पर मै उस प्राणी में प्राण का संचार कर देना जानता हूं।"

इस प्रकार, उन चारों भाइयों ने जब अपनी-अपनी विद्या के प्रभाव का वर्णन कर लिया, तब वे उसकी सिद्धि के लिए हड्डी का कोई टुकड़ा ढूंढ़ने के लिए वन में गए।

सयोग से उन्हें वहां सिंह की एक टूटी हड्डी का टुकड़ा मिल गया। उसके बारे में बिना कुछ जाने-सुने उन्होंने उसे उठा लिया।

तब एक ने उस हड्डी में उसके योग्य मांस बना दिया। दूसरे ने उसमें उसके अनुकूल चमड़ी और रोम तैयार कर दिए। तीसरे ने उसके सारे अंग ज्यों के त्यों बना दिए और चौथे ने उसमें प्राण का संचार कर दिया।

अनन्तर, भयानक दिखने वाला, भयानक मुख और तीखे नखों के अंकुश वाला, वह सिंह उठ खड़ा हुआ।

उसने झपटकर अपने चारों ब्राह्मणों को मार डाला और अपना पेट भरकर, तृप्त होकर वन में चला गया। इस प्रकार वे ब्राह्मण सिंह को जीवित करने की गलती के कारण मारे गए। भला दुष्ट प्राणी को जगाकर कौन मनुष्य स्वयं सुखी होता है ?

यदि विधाता वाम होता है, यो यत्नपूर्वक सीखे हुए गुण भी सुखकर नहीं होते बल्कि दुख का कारण बन जाते हैं। पौरुष का वृक्ष तभी फल देता है, जब भाग्य-रूपी उसकी जड़ विकार रहित (अनुकूल) हो। वह नीति के थावले में स्थित हो और ज्ञान के जल से सींचा गया हो।

रात में मार्ग में चलते हुए राजा विक्रमादित्य के कंधे पर बैठे हुए बेताल ने उसको यह कथा सुनाकर पूछा—"राजन, अब यह बतलाओ कि उन चारों में से सिंह को बनाने का वास्तविक अपराध किसका था ? यदि जानते हुए भी तुम नहीं बतलाओगे, तो पहले कहा हुआ शाप तुम पर पड़ेगा।"

बेताल की बात सुनकर राजा ने सोचा कि 'बेताल मेरा मौन तुड़वाकर फिर चला जाना चाहता है तो चला जाए, मैं लौटकर फिर इसे पकड़ लाऊंगा।' मन-ही-मन ऐसा सोचकर उसने बेताल से कहा—"बेताल, जिस ब्राह्मण ने उस सिंह को प्राणदान दिया, वही उन चारों में से इस पाप का भागी है। बिना यह जाने कि यह कौन-सा प्राणी है, उन्होंने अपनी विद्या से चमड़ा, मांस, रोम और दूसरे अंग दिए, उनका दोष इस कारण नहीं है कि उन्हें वास्तविकता का ज्ञान नहीं था किंतु जिसने सिंह का आकार देखकर भी अपनी विद्या का प्रभाव दिखाने की उत्कंठा से उसमें प्राण डाले, वस्तुतः ब्रह्महत्या उसी ने की।"

उस मायावी बेताल-श्रेष्ठ ने जब राजा की यह बातें सुनीं, तब वह उसके कंधे से उतरकर फिर अपनी जगह चला गया। बेताल को पकड़ने के लिए कटिबद्ध राजा भी पहले की भांति उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

❑❑❑

तेईसवां बेताल

अघोरी तपस्वी की कथा

भूत-प्रेतो से भरे उस महाश्मशान में राजा विक्रमादित्य फिर से उस शिंशपा-वृक्ष के नीचे पहुचा। यद्यपि बेताल ने अपने अनेक रूप दिखलाए किंतु राजा ने उसे वृक्ष से नीचे उतार लिया और उसे अपने कंधे पर लादकर चुपचाप मार्ग पर चलते रहे। तब बेताल ने राजा विक्रमादित्य से कहा—"राजन ! न करने योग्य इस काम में भी तुम्हारा ऐसा आग्रह है, जिसे रोका नही जा सकता। अतः मै तुम्हारी थकावट दूर करने के लिए एक अन्य कथा सुनाता हू, सुनो।"

कलिंगा देश में स्वर्गपुरी के समान भव्य नगरी थी, जहां उत्तम आचरण वाले लोग रहते थे। वहां ऐश्वर्य और पराक्रम के लिए प्रद्युम्न के समान प्रसिद्ध, प्रद्युम्न नाम का राजा शासन करता था। उस नगर के एक छोर पर यज्ञस्थल नाम का एक गांव था जिसे राजा प्रद्युम्न ने ब्राह्मणों को दान स्वरूप दिया था। उसी गांव मे यज्ञसोम नाम का एक वेदज्ञ ब्राह्मण भी रहता था, जो अत्यंत धनवान था। वह अग्निहोत्री था तथा अतिथि-देवों का सम्मान करने वाला था।

जब उस ब्राह्मण का यौवन बीत गया, तब सौ-सौ मनोरथों के बाद, उसके ही योग्य उसकी पत्नी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उत्तम लक्षणों वाला वह बालक पिता के घर में बढ़ने लगा। ब्राह्मणों ने विधिपूर्वक उसका नाम देवसोम रखा। वह बालक, जिसने अपनी विद्या, विनय आदि गुणों से लोगो को वशीभूत कर लिया था, जब सोलह वर्ष का हुआ, तब अचानक ज्वर के कारण मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके पिता यज्ञसोम ने स्नेह के कारण अपनी पत्नी सहित उस मरे हुए पुत्र को आलिंगन मे बाधे रखा और बहुत देर तक उसके शव को दाह-क्रिया के लिए नही जाने दिया।

बाद में, वहां इकट्ठे हुए बडे-बूढ़ों ने उसे इस प्रकार समझाया—"ब्राह्मण, आप तो भूत और भविष्य को जानने वाले है। आप क्या जल के बबूले के समान क्षण-भगुर इस संसार की गति नही जानते ? इस ससार मे ऐसे भी राजा थे, जो उन मनोहर राजमहलों में रत्नजडित पलंगों पर बैठे, जहा सगीत की झंकार भरी रहती थी, अपने शरीर पर चन्दन का लेप करते थे और अपने को अमर समझकर उत्तम स्त्रियो से घिरे रहते और सुख भोगते थे। ऐसे महापराक्रमियों को भी काल ने अपना ग्रास बना लिया। वे भी अकेले ही उस श्मशान मे पहुंचे जहा उनके अनुयायी और प्रेत रो रहे थे और आसपास श्रृगाल चीत्कार कर रहे थे। चिता पर सोये उनके शरीर का मांस भी पक्षी, पशुओं और अग्नि ने खा डाला। जब उन्हे भी मरने और नष्ट होने से कोई नहीं बचा सका, तब और की तो बात ही क्या है ? अतः हे विद्वान ! तुम यह

बतलाओ कि कि इस शव को कलेजे से लगाए रखकर तुम क्या करोगे ?"

इस तरह समझाने-बुझाने के बाद किसी तरह अपने मरे हुए पुत्र को छोड़ा और शव को नहलाया-धुलाया। तब उसे एक पालकी में रखकर, आंसू बहाते तथा रोते-पीटते वे बन्धु-बांधव, जो वहां इकट्ठे थे, श्मशान ले गए।

उस श्मशान में कुटिया बनाकर एक बूढ़ा तपस्वी रहता था। वह पाशुपत मत का योगी (अघोरी) था। अधिक अवस्था और कठोर तपस्या के कारण उसका शरीर अत्यंत कृश हो गया था। जब वह चलता था तो ऐसा लगता जैसे अब गिरा कि तब गिरा।

उसका नाम शिव था। उसका सारा शरीर भस्म लगे श्वेत रोमों से भरा हुआ था। उसका पीला जटाजूट बिजली के समान जान पड़ता था। वह स्वयं दूसरे शिव जैसा प्रतीत होता था।

उस तपस्वी के साथ उसकी कुटिया में एक शिष्य भी रहता था। योगी ने कुछ ही देर पहले उसे बुरा-भला कहा था, जिससे वह चिढ़ा हुआ था। वह मूर्ख और दुष्ट था। ध्यान और योग आदि क्रियाओं में लगा रहने के कारण उसे अहंकार हो गया ता। वह भीख में मिले हुए अन्न को खाकर निर्वाह करता था। बाहर दूर से आते हुए इस जन-कोलाहल को सुनकर योगी ने उससे कहा—"बाहर जाकर झटपट यह तो देखकर आओ कि इस श्मशान में ऐसा शोरगुल क्यों हो रहा है, जैसा इससे पहले कभी नहीं सुना गया।"

गुरु के ऐसा कहने पर उस शिष्य ने उत्तर दिया—"मैं नहीं जाऊंगा, आप ही जाइए। मेरी भिक्षा की बेला बीती जा रही है।"

यह सुनकर योगी बोला—"अरे पेटू, धिक्कार है तुझे। आधा दिन बीत जाने पर यह तेरी कैसी भिक्षा की बेला है ?"

इस पर उस क्रुद्ध तपस्वी ने कहा—"अरे बुड्ढे, धिक्कार मुझे नहीं तुझ पर है। आज से न तो मैं तेरा शिष्य हूं और न तू मेरा गुरु। मै दूसरी जगह जा रहा हूं। तू संभाल अपना यह कमंडल।" यह कहकर वह उठा और उस तपस्वी के सम्मुख दंड-कमंडल रखकर वहां से चलता बना।

कुछ देर बाद, वह तपस्वी हसता हुआ अपनी कुटिया से बाहर निकलकर वहां पहुंचा जहां ब्राह्मणकुमार को दाह-कर्म के लिए लाया गया था। उसने देखा कि लोग तरुणाई के द्वार पर खड़े उस बालक के लिए शोक कर रहे हैं। बुढ़ापे से क्षीण उस योगी ने बालक के शरीर में प्रवेश करने का निश्चय किया। झटपट एकान्त में जाकर पहले तो वह जी खोलकर रोया, फिर अंगों के उचित संचालन के साथ शीघ्रता से नाचने लगा। पल-भर बाद यौवन की इच्छा रखने वाले उस तपस्वी ने अपना शरीर छोड़कर उस ब्राह्मण-पुत्र के शरीर में प्रवेश किया।

बात ही बात में सजाई हुई चिता पर वह ब्राह्मण-पुत्र जीवित होकर जम्हाई लेता हुआ उठ बैठा। यह देखकर वहां उपस्थित सभी लोग आश्चर्यचकित रह गए। ब्राह्मण-पुत्र के

शरीर मे प्रविष्ट उस योगी ने जो योगों का स्वामी था और अपने तमाम व्रतों को छोड़ना नहीं चाहता था, बातें बनाते हुए कहा—"मरकर जब मैं परलोक पहुंचा तो भगवान शिव ने प्रकट होकर मुझे जीवनदान दिया और कहा कि तुम्हें पाशुपत (अघोरी) व्रत लेना है। मुझे इसी समय एकान्त में जाकर यह व्रत ग्रहण करना है। यदि मैं ऐसा नहीं करूंगा तो जीवित नहीं रहूंगा। इसलिए आप सब लोग वापस लौट जाइए, मै जा रहा हूं।"

इस प्रकार उस तपस्वी ने, जिसने व्रत का दृढ़ निश्चय कर रखा था, वहां एकत्र हुए हर्ष और शोक से विह्वल सब लोगों को समझा-बुझाकर, घर लौटा दिया। तत्पश्चात् उसने उस जगह जाकर, जहां उसका पहला शरीर पड़ा हुआ था, वह मृत शरीर एक गड्ढे में डाला और व्रत धारण करके युवा शरीर में वह महायोगी कहीं अन्यत्र चला गया।

राजा विक्रमादित्य को यह कथा सुनाकर बेताल ने उससे पुनः कहा—"राजन, अब तुम मुझे यह बतलाओ कि दूसरे शरीर में प्रवेश करने से पहले वह योगी क्यों रोया और फिर नाचने क्यों लगा ? मुझे इस बात को जानने का बड़ा कौतूहल हो रहा है।"

बेताल की यह बात सुनकर, शाप से आशंकित और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राजा ने मौन त्याग दिया और बेताल से कहा—"हे बेताल ! इन बातों से उस तपस्वी का जो अभिप्राय था, वह सुनो।

"उस वृद्ध तपस्वी ने सोचा—'इस बूढ़े शरीर के साथ बहुत दिनों तक मैं सिद्धियों की साधना करता रहा हूं। अब मैं इस शरीर का त्याग करने जा रहा हूं जिसे मां-बाप ने बचपन में लाड़-प्यार से पाला था।'

"यही सोचकर वह तपस्वी दुखी हुआ और रोया था क्योंकि शरीर का मोह छोड़ना बड़ा कठिन काम होता है। इसी प्रकार वह यह सोचकर प्रसन्नता से नाच उठा था कि अब वह नए शरीर में प्रवेश करेगा और इससे भी अधिक साधना कर सकेगा।"

शव के शरीर में बैठा हुआ वह बेताल, राजा की यह बातें सुनकर उसके कंधे से उतरकर पुनः उसी शिंशपा-वृक्ष पर जा बैठा। राजा विक्रमादित्य ने और अधिक उत्साह से उसे ले आने के लिए फिर उसका पीछा किया।

चौबीसवां बेताल

एक अद्भुत कथा

वह रात किसी राक्षसी के समान थी। श्मशान में यत्र-तत्र जलती हुई चिताएं ही मानो उस राक्षसी की आंखें थीं। ऐसी महाभयानक रात में राजा विक्रमादित्य फिर से शिंशपा-वृक्ष के नीचे पहुंचा और बेताल को नीचे उतार लिया। फिर वह उसे कंधे पर डालकर मौनभाव से अपने गंतव्य की ओर चल दिया। कुछ आगे चलकर बेताल ने पुनः मौन भंग किया—"राजन! बार-बार की इस आवाजाही से मै तो बिल्कुल ऊब चुका हूं किंतु तुम पर कोई फर्क नहीं पड़ा है। अब मैं तुमसे एक महाप्रश्न पूछता हूं, इसे सुनो।"

दक्षिणपथ में धर्मनाम का एक मांडलिक राजा राज करता था। वह राजा बहुत ही सद्गुणी था। उसके बहुत से गोत्रज (परिवारजन) थे। उसकी स्त्री का नाम चंद्रावती था, जो मालवा की रहने वाली थी और वहां के एक संभ्रान्त परिवार में पैदा हुआ थी। राजा को अपनी उस पत्नी से एक ही कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम लावण्यवती था। अपने नाम के अनुरूप ही लावण्यवती सचमुच ही मानो रूप का खजाना थी।

जब वह कन्या विवाह के योग्य हुई, तब राजा के गोत्रजों ने उसके विरुद्ध एक षड्यंत्र रचा। उन्होंने राज्य में फूट डाल दी और राजा धर्मनाम को सिंहासन से उतार दिया। वे उसके खून के प्यासे बन गए। एक रात राजा अपनी पत्नी और पुत्री सहित किसी प्रकार बचकर वहां से निकल भागा। वह अपने साथ बहुत ही उत्तम कोटि के कुछ रत्नों को भी ले जाने में कामयाब हो गया। राज्य से निकलकर राजा अपनी ससुराल मालवा के लिए चल पड़ा। पत्नी और पुत्री के साथ जाता हुआ जब वह विंध्याचल पर्वत के निकट पहुंचा तो रात हो गई। किसी प्रकार वह रात उन सबने उसी जंगल में काटी और भोर होते ही पुनः आगे चल पड़े।

वैभव और ऐश्वर्य में पले-बड़े होने के कारण उन्होंने कभी पैदल सफर नहीं किया था, अतः उनके पांव कांटों से छिल गए थे। इस तरह चलते-चलते वे एक भीलों के गांव में जा पहुंचे। उस गांव के भील चोर-लुटेरे थे। धन के लिए किसी की भी हत्या तक कर देना उनके लिए मामूली बात थी। वस्त्र और आभूषण पहनने वाले राजा को दूर से ही देखकर, वे उन्हें लूटने के लिए अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र हाथों में लिए उनकी ओर दौड़ पड़े।

उन्हें देखकर राजा धर्मनाम ने अपनी स्त्री और कन्या से कहा—"ये म्लेच्छ पहले तुम्हारे ही ऊपर आक्रमण करेंगे, अतः तुम दोनों तुरन्त वन में जाकर छिप जाओ।"

राजा के ऐसा कहने पर, भय के कारण रानी चंद्रावती अपनी कन्या को साथ लेकर तत्काल वन में चली गई। कुछ देर उपरान्त ही वे लुटेरे भील राजा के पास

पहुंच गए और अपने अस्त्र-शस्त्रों से राजा पर टूट पड़े। राजा ने अपनी समस्त शक्ति से उनका मुकाबला किया। उसने अपने तीरों से अनेक लुटेरों को मार गिराया, पर अन्तत: लुटेरों ने उस पर सामूहिक रूप से आक्रमण किया और उसे मारकर उसके शरीर के समस्त आभूषण उतारकर ले गए।

दूर वन में छिपी हुई रानी और उसकी पुत्री ने यह दृश्य देखा तो प्राणों के भय से वह वहां से भाग निकलीं और दूर के घने जंगल में चली गई। उस जंगल में एक सरोवर के समीप वृक्ष के नीचे बैठकर वह दोनों विलाप करने लगीं। इसी बीच उस वन के निकट रहने वाला, घोड़े पर सवार कोई राजा आखेट करने के लिए अपने पुत्र के साथ उधर आ निकला। उस राजा का नाम था चंद्रसिंह और उसके पुत्र का नाम सिहपराक्रम था। धूल में उभरे हुए उन मां-बेटी के पदचिन्ह देखकर चंद्रसिंह ने अपने पुत्र से कहा—"हम दोनों इन सुन्दर और उत्तम रेखाओं वाले पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ते हैं। ये चिन्ह अवश्य ही दो महिलाओं के हैं। यदि वे स्त्रियां हमें मिल जाएं तो उनमें से एक को तुम ब्याह लेना।"

पिता की बात सुनकर उसका पुत्र सिंहपराक्रम बोला—"उन स्त्रियों से जिसके छोटे-छोटे पैर हैं, मैं उसी के साथ विवाह करूंगा। अवश्य ही वह स्त्री कम उम्रवाली है और मेरे योग्य है। दूसरी बड़े पैरों वाली से आप विवाह कर लेना।"

पुत्र की बात सुनकर उसका पिता बोला—"तुम यह कैसी बातें करते हो पुत्र। तुम्हारी माता को मरे अभी कुछ ही दिन तो बीते हैं। वैसी योग्य गृहणी को खोकर अब मुझे किसी और की कामना कैसे हो सकती है ?"

इस पर उसके पुत्र सिंहपराक्रम ने उत्तर दिया—"पिताजी, आप ऐसा न कहें। मैने जिस स्त्री के पदचिन्ह देखकर उसे अपने लिए पसंद किया है, उसे छोड़कर दूसरी स्त्री को आप अपनी भार्या अवश्य बनाएं, आपको मेरे प्राणों की सौगन्ध"। फिर दोनों, पैरों के निशान देखते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे।

जब वे दोनों विलाप करती हुई उन मां-बेटी के निकट पहुंचे तो दोनों स्त्रियां सहमकर चुप हो गई। उन्होंने उन बाप-बेटे को भी कोई लुटेरा ही समझा था। लेकिन जब राजा ने उन्हें अपना परिचय देकर निर्भय होने के लिए आश्वस्त किया, तब वे दोनों स्त्रियों को अपने घोड़े पर बिठाकर अपने महल ले आए। महल में पहुंचकर उन पिता-पुत्र में आपस में यह वार्तालाप हुआ कि अब उन स्त्रियों के साथ विधिपूर्वक विवाह कर लेना चाहिए। दिए गए वचन के अनुसार राजा चंद्रसिंह के पुत्र सिंहपराक्रम ने रानी चंद्रावती को अपनी पत्नी बनाया क्योंकि उसी के पैर छोटे थे, जबकि राजा चंद्रसिंह को उसकी बेटी लावण्यवती से विवाह करना पड़ा क्योंकि उसके पैर बड़े थे। इस प्रकार पैरों की गड़बड़ी से उन पिता-पुत्रों ने क्रमशः बेटी और माता से विवाह कर लिया। चंद्रावती अपनी ही बेटी की बहू बन गई। समय पाकर उन दोनों को पुत्र एवं कन्याएं उत्पन्न हुई और फिर उनके भी बेटी-बेटे हुए।

रात्रि के समय मार्ग में जाते हुए बेताल ने इस प्रकार यह कथा सुनाकर राजा विक्रमादित्य से पुनः पूछा—"राजन, यदि तुम जानते हो तो यह बतलाओ कि उन मां-बेटियों को, पुत्र एवं पिता के द्वारा क्रमशः जो सन्तानें पैदा हुई, उनका आपस में क्या संबंध हुआ ? यदि जानते हुए भी तुमने नहीं बतलाया, तो तुम्हें पहले कहा हुआ ही शाप लगेगा।"

यह सुनकर राजा विक्रमादित्य सोच में पड़ गया। उन्होंने बहुत सोचा-विचारा किंतु बेताल के उस प्रश्न का कोई भी उत्तर उनकी समझ में नहीं आया। अतः वह चुप्पी साधे मौन भाव से आगे बढ़ता रहा। मृत पुरुष के शरीर में प्रविष्ट और राजा के कंधे पर बैठा बेताल इस पर मन-ही-मन हंसा और सोचने लगा—'इस महाप्रश्न का उत्तर इस राजा को मालूम नहीं है, फिर भी यह प्रसन्न है और सावधानीपूर्वक पैर रखता हुआ निरंतर आगे बढ़ रहा है। यह राजा बड़ा पराक्रमी है, इसलिए वंचित होने के योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त वह भिक्षु मेरे साथ जो चाल चल रहा है, वह इतने से ही चुप नहीं रहेगा। इसलिए मैं उस दुरात्मा को ही उपायपूर्वक वंचित करूंगा और उसकी सिद्धि इस राजा के लिए सुलभ कर दूंगा, क्योंकि भविष्य में इसका कल्याण होने वाला है।'

ऐसा सोचकर बेताल ने राजा से कहा—"राजन, इस भयानक रात में, इस श्मशान में बार-बार आते-जाते तुमने बहुत कष्ट उठाया है, फिर भी तुम अपने निश्चय से नही डिगे, तुम सुख पाने के योग्य हो। मैं तुम्हारे इस आश्चर्यजनक धैर्य से संतुष्ट हुआ। अतः अब तुम इस शव को ले जाओ, मैं इसमें से चला जाता हूं। लेकिन जाने से पहले तुम्हारी भलाई के लिए मैं जो तुमसे कहना चाहता हूं, उसे सुनो और उसके अनुसार ही कार्य करो।"

बेताल ने आगे कहा—"हे राजन ! तुम जिस दुष्ट भिक्षु के लिए मनुष्य का यह शरीर लेकर जा रहे हो, वह आज इस शरीर में मेरा आह्वान करके पूजा करेगा। पूजा करने के बाद वह दुष्ट तुम्हारी ही बलि चढ़ाने की इच्छा से तुमसे कहेगा कि—'भूमि पर पड़कर साष्टांग प्रणाम करो।' तब उस समय तुम उस भिक्षु से कहना—'पहले तुम करके दिखलाओ, फिर मैं वैसा ही करूंगा।' तत्पश्चात् जब वह भूमि में पड़कर प्रणाम करके तुम्हें दिखलाए, उसी समय तुम तलवार से उसका मस्तक काट देना। तब विद्याधरों का जो ऐश्वर्य वह प्राप्त करना चाहता है, वह तुम्हें मिल जाएगा। उसकी बलि देकर तुम पृथ्वी का भोग करोगे। ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हारी बलि चढ़ा देगा। मैंने इसी कारण तुम्हारे इस कार्य में इतनी देर तक विघ्न डाला था। जाओ, तुम्हें सफलता प्राप्त हो।" इतना कहकर राजा के कंधे पर लदे मृत शरीर से निकलकर बेताल चला गया।

बेताल की बातों से प्रसन्न हुए राजा विक्रमादित्य भी उस शव को लादे वट-वृक्ष की ओर चल पड़ा जहां उस भिक्षु ने उसे पहुंचने के लिए कहा था।

❑❑❑

पच्चीसवां बेताल

भिक्षु शान्तशील की कथा

राजा विक्रमादित्य अपने कंधे पर शव को लादे हुए उस भिक्षु शान्तशील के पास पहुंचे। कृष्णपक्ष की रात से भयावह हो रहे उस श्मशान में वृक्ष की जड़ के समीप बैठा वह भिक्षु टकटकी लगाए राजा की ही प्रतीक्षा कर रहा था। उसने श्मशान की उस भूमि को रक्त से लीप रखा था। हड्डियों के सफेद चूर्ण से चौक पूरा था और चारों दिशाओं से रक्त से भरे घड़े रख दिये थे। वहां मनुष्य की चरबी से भरा दीपक जल रहा था। पास ही जल रही अग्नि में आहुति दी गई थी।

राजा उस भिक्षु के समीप पहुंचा। शव लेकर आए राजा को जैसे ही उस भिक्षु ने देखा, वह प्रसन्न होकर उठ खड़ा हुआ और राजा की प्रशंसा करता हुआ बोला—"महाराज! आपने मुझ पर दुष्कर अनुग्रह किया है। वे लोग, जो आपको समस्त राजाओं में श्रेष्ठ कहते हैं, वह उचित ही है क्योंकि एक आप ही हैं जो अपनी चिंता छोड़कर परोपकार कर सकते हैं। विद्वान लोग इसी को बड़ों की महत्ता कहते हैं कि वे लोग जो भी अंगीकार कर लेते हैं, उससे कभी विचलित नहीं होते, चाहे उस प्रयास में उनके प्राण ही क्यों न चले जाएं।"

ऐसा कहते हुए उस श्रमण ने, जो यह समझ रहा था कि उसका कार्य पूर्ण हो गया, राजा के कंधे से उस शव को उतार लिया। तत्पश्चात् उसने शव को स्नान कराया, उसके शरीर पर लेप किया, माला पहनाई और फिर उसे पूरे हुए चौक में रख दिया। फिर उसने अपने शरीर पर भस्म लगाई, केस का यज्ञोपवीत धारण किया और शवाच्छादन (मुर्दे को ओढ़ाया जाने वाला कफन) पहना, फिर कुछ देर के लिए ध्यानस्थ हो गया।

उस भिक्षु ने मंत्रबल से उस श्रेष्ठ बेताल का आह्वान किया। मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट कराने के बाद वह क्रम से उसकी पूजा करने लगा। भिक्षु ने मनुष्य की खोपड़ी से उसे अर्घ्य दिया। मनुष्य के ही दांतों के फूल चढ़ाए और सुगंधित लेप लगाया। उसने मनुष्य की आंखों का धूप दिया और मांस की बलि दी। इस तरह पूजा समाप्त करके उसने पास ही खड़े राजा से कहा—"महाराज, यहां मंत्रों के अधिष्ठाता पधारे हैं। तुम भूमि पर लेटकर इन्हें साष्टांग प्रणाम करो, इससे वे वरदायी देव तुम्हें तुम्हारा मनचाहा वर देंगे।"

यह सुनते ही राजा को बेताल द्वारा कहे गए शब्दों की याद हो आई। तब उसने भिक्षु से कहा—"भगवन्, मैं ऐसा करना नहीं जानता, अतः पहले आप प्रणाम करके मुझे दिखला दें, तब मैं वैसा ही करूंगा। इसके बाद वह भिक्षु, प्रणाम का ढंग बतलाने के लिए ज्योंही भूमि पर झुका, राजा विक्रमादित्य ने अपनी तलवार से तुरंत ही उसका सिर काट डाला।

राजा ने उसका सीना फाड़कर उसका हृदय-कमल भी निकाल लिया और वह सिर और हृदय-कमल बेताल को अर्पित कर दिया।

श्मशान के भूत-प्रेतों ने प्रसन्न होकर राजा को साधुवाद कहा। संतुष्ट होकर बेताल ने भी उस मनुष्य शरीर के अंदर से कहा—"राजन ! यह भिक्षु विद्याधरों के जिस इन्द्रपद की कामना करता था, वह अब भूमि साम्राज्य का भोग कर लेने के बाद तुम्हें प्राप्त होगा। मेरे द्वारा तुम्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा है, अतः तुम अभीष्ट वर मांगो।"

बेताल के ऐसा कहने पंर राजा उससे बोला—"वैसे तो आपकी प्रसन्नता से ही मुझे समस्त अभिमत प्राप्त हो गए हैं, तथापि हे योगेश्वर ! आपका वचन अमोघ है इसलिए मै इतना ही मांगता हूं कि अनेक कथाओं के मनोरम आरंभ से चौबीस और यह अंतिम पच्चीसवीं कथा, ये सभी समूचे विश्व में प्रसिद्ध हों और सदैव ही आदरणीय रहें।"

राजा की इस याचना के बाद बेताल ने कहा—"हे राजन ! ऐसा ही होगा। किंतु इससे अधिक मैं जो कुछ चाहता हूं, तुम उसे सुनो। पहले की जो चौबीस कथाएं हैं, वे और अंतिम पच्चीसवीं कथा, यह सारी कथावली संसार में 'बेताल पच्चीसी' के नाम से प्रसिद्ध होगी। लोग इनका आदर करेंगे और कल्याणदायिनी भी होगी। जो कोई आदरपूर्वक इसका एक भी श्लोक पढ़ेगा अथवा जो इसे सुनेगा, ऐसे दोनों प्रकार के लोग शीघ्र ही पापमुक्त हो जाएंगे। जहां-जहां भी ये कथाएं पढ़ी-सुनी जाएंगी, वहां यक्ष, बेताल, डाकिनी, राक्षस आदि का प्रभाव नहीं पड़ेगा।" इतना कहकर वह बेताल उस मनुष्य-शरीर से निकलकर योगमाया के द्वारा अपने अभीप्सित लोक को चला गया।

तत्पश्चात् भगवान शिव, जो राजा से प्रसन्न हो गए थे, देवताओं सहित वहां साक्षात् प्रकट हुए। उन्होंने राजा विक्रमादित्य को प्रणाम करते हुए आदेश दिया—"वत्स, तुम धन्य हो कि तुमने इस धूर्त तपस्वी को मार डाला। जो हठपूर्वक विद्याधरों का महाचक्रवर्ती पद प्राप्त करना चाहता था। मलेच्छ रूप में अवतीर्ण असुरों को शांत करने के लिए मैंने ही तुम्हें सिरजा है। अतः द्वीपों और पातालों सहित इस धरती के समस्त भोगों का उपभोग करके जब तुम इनसे ऊब जाओगे, तब अपनी ही इच्छा से उन सब सुखों का त्याग करके तुम मेरे निकट आ जाओगे। अब मेरे द्वारा प्रदत्त यह 'अपराजित' नाम का खड्ग स्वीकार करो। इसकी कृपा से तुम्हें वह सब सुख प्राप्त होंगे, जो मैंने तुम्हें बताए हैं।"

यह कहकर भगवान शिव ने वह खड्ग राजा को दे दिया और वचन-रूपी पुष्पों से पूजित होकर वे अन्तर्ध्यान हो गए।

अब तक रात बीत चुकी थी, सवेरा हो रहा था। राजा ने देखा कि सारे कार्य समाप्त हो चुके हैं; अतः वह अपने नगर लौट गया।

क्रमशः प्रजाजनों को जब उस रात की घटनाएं मालूम हुईं, तब उन्होंने राजा का सम्मान किया और महोत्सव मनाया। वह सारा दिन स्नान-दान, शिवार्चना, नाच-गान और गाजे-बाजे में बीता। कुछ ही समय में भगवान शिव के उस खड्ग के प्रभाव से, राजा विक्रमादित्य ने द्वीपों एवं रसातलों सहित इस धरती पर निष्कंटक राज्य किया। तत्पश्चात् भगवान शिव की आज्ञा से विद्याधरों का महान स्वामित्व प्राप्त किया। राजा विक्रमादित्य ने बहुत दिनों तक विद्याधरों के राजा के रूप में सुख-भोग प्राप्त किया और अंत में वह भगवत् स्वरूप को प्राप्त हुआ।